6457

Received
17.5.97

आ. श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मन्दिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

तित्थयर

जैन भवन

वर्ष २० : अंक ११ मार्च १९९७
अंक १२ अप्रैल १९९७

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष २० : अंक ११-१२
मार्च-अप्रैल १९९७

□

संपादन
राजकुमारी बेगानी
लता बोथरा

□

आजीवन : एक हजार रुपये
वार्षिक शुल्क : पचपन रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी-२५, कलाकार स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०००७
दूरभाष : २३८२६५५

□

मुद्रक
अनुप्रिया प्रिन्टर्स
६ ए, बड़ौदा ठाकुर लेन,
कलकत्ता-७

सूची

श्रावक-जीवन	३२५
वसुदेवहिंडी और वृहत्कथा	३३४
शुद्ध आचरण ही धर्म है	३४६
राजा सम्प्रति	३५०
उलटी लिपि का कलाकार	३५८
तित्थयर वर्ष-२०	३६१

जिसने दुःख को समाप्त कर दिया है उसे मोह नहीं है, जिसने मोह को मिटा दिया है उसे तृष्णा नहीं है। जिसने तृष्णा का नाश कर दिया है उसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, वह अकिंचन है।

NAHAR

Interior Decorator

5/1, Acharya Jagadish Chandra Bose Road

CALCUTTA-700 020

Phone : 247-6874 Resi. : 244-3810

श्रावक जीवन (७)

आचार्य श्री विजय भद्रगुप्त सुरीश्वरजी महाराज

पूर्वानुवृत्ति

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है। यह विशेष गृहस्थ धर्म कैसे व्यक्ति को देना चाहिये कि जिससे उस जीवात्मा का आत्मकल्याण हो, इस विषय में ग्रन्थकार आचार्यश्री ने कहा कि जो जीवात्मा सम्यग्दृष्टि हो उसको ही विशिष्ट गृहस्थधर्म देना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का परिचय, टीकाकार आचार्यश्री ने दो शब्दों में दिया है—भव्य और भवभीरू !

सम्यग्दृष्टि आत्मा—भव्य और भवभीरू :

'भव्य' का अर्थ है मोक्ष में जाने की योग्यतावाला ! संसार में सभी जीव मोक्ष में जाने की योग्यतावाले नहीं होते हैं। जो योग्यतावाले होते हैं वे 'भव्य' कहलाते हैं, जो योग्यतावाले नहीं होते हैं वे 'अभव्य' कहलाते हैं। संसार में दोनों प्रकार के जीव होते हैं—भव्य और अभव्य।

भव्य जीव कभी भी मोक्ष में जायेगा। अभव्य जीव कभी भी मोक्ष में नहीं जायेगा। आपके मन में जिज्ञासा पैदा होगी कि 'मैं भव्य हूं या अभव्य ?' इस जिज्ञासा का समाधान तो विशिष्ट ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जिस जीवात्मा के मन में चिन्ता होती है कि 'मैं भव्य हूँ या अभव्य ?' वह जीवात्मा भव्य होता है ! अभव्य जीव को ऐसी चिन्ता ही नहीं होती है।

हालांकि भव्य जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है, अभव्य जीव सदैव मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीव भव्य ही होता है।

विशिष्ट गृहस्थधर्म स्वीकार करने वाला मनुष्य भवभीरू' होना चाहिये। 'भवभीरू' यानी भवभ्रमण से डरनेवाला। अब मुझे संसार की चार गतियों में जन्म-मृत्यु नहीं पाना है,' ऐसा विचार हमेशा बना रहना चाहिये। ऐसा मनुष्य संसार में भटकाने वाले पापों से बचने का प्रयत्न करता रहेगा। व्रतमय गृहस्थ-धर्म स्वीकारने वाला मनुष्य ऐसा 'भवभीरू' होना चाहिये। भवभीरू मनुष्य ही सही रूप में व्रतमय विशिष्ट गृहस्थधर्म का पालन कर सकता है।

ऐसा भव्य और भवभीरू मनुष्य जब धर्म पाने की इच्छा से सद्गुरु के पास आये, तब सर्वप्रथम उसको सद्गुरु साधुधर्म का उपदेश देते हैं! ग्रन्थकार आचार्यश्री कहते हैं—

"उत्तमधर्मप्रतिपत्त्यसहिष्णोस्वत्कथनपूर्वमुपस्थितस्य
विधिनाऽणुव्रतादिदानम् ।"

पहला उपदेश साधुधर्म का :

आपकी दुकान में कोई अच्छा श्रीमंत ग्राहक आता है तो आप उसको पहले बढ़िया माल बताओगे न ? वैसे हमारे पास भव्य और भवभीरू जैसा सुयोग्य धर्मग्राहक आये तो हमें उसको उत्तम धर्म ही पहले बताना चाहिये ! उत्तम धर्म है साधु धर्म—श्रमणधर्म। चूंकि साधुधर्म से ही सभी कर्मों का नाश होता है। साधु धर्म की उत्तमता इस दृष्टि से है, कर्मक्षय की अपेक्षा से है। साधुधर्म के लिए टीकाकार आचार्यश्री ने कहा है : 'सर्वकर्म विरेचकः' साधुधर्म सभी कर्मों का विरेचक है यानी नाशक है।

भव्य और भवभीरु जीवात्मा को सर्वप्रथम साधुधर्म का उपदेश देने की जिज्ञासा है। साधुधर्म का विवेचन विस्तार से करना है। साधुधर्म का स्वरूप समझाना है, साधुधर्मपालन का फल बताने का है। साधुजीवन का आनन्द बताना है। ऐसी मिष्ट भाषा में, करुणासभर हृदय से यह बातें करने की हैं कि सुनने वाली आत्मा साधु धर्म के प्रति आकर्षित हो जाय और साधुधर्म का पालन करने की यदि उसकी क्षमता हो, शक्ति हो, तो वह साधुधर्म को स्वीकार भी कर सके।

कुछ लोगों की ऐसी मानसिक स्थिति होती है कि उनको घटिया किस्म का माल पसन्द आ जाने पर वे बढ़िया किस्म का माल पसन्द नहीं करते। उनके लिये 'जो मन को पसन्द आया वह बढ़िया,' यह सिद्धान्त होता है।

जटाशंकर को पेन्ट पहनने की इच्छा हुई। वह पेन्टपीस लेने एक बड़े स्टोर में गया। सेल्समेन ने जटाशंकर को पच्चीस रुपये मीटर वाला पेन्टपीस बताया। डीजाइन अच्छी थी, कलर अच्छा था। जटाशंकर ने पेन्टपीस ले लिया रुपये देने के लिये उसने अपनी जेब में से सौ-सौ के नोटों का एक बण्डल निकाला और उसमें से सौ रुपये का एक नोट देने लगा। सेल्समेन ने जटाशंकर के पास इतने सारे रुपये देखे, उसने सोचा : 'यह ग्राहक श्रीमंत है मैं उसको सौ रुपये मीटर का पेन्टपीस बताऊँ।' उसने वह मूल्यवान पेन्टपीस बताकर जटाशंकर को कहा : 'आपको तो यह पेन्टपीस लेना चाहिये ! यह १०० रुपये मीटर का पेन्टपीस है। जटाशंकर ने कहा : जो पेन्टपीस मैंने लिया है वह अब आप लेना चाहो तो मैं १५० रुपये मीटर के भाव से दूँगा, समझे ?

सेल्समेन को अफसोस हुआ। 'यदि मैं इसको पहले ही १०० रुपये मीटर के भाव का पेन्टपीस बताता तो यह ले लेता···।' मनुष्य की एक प्रकार की यह मनोवृत्ति है। ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्य की मनोवृत्ति को जानकर, यह विधान किया है कि धर्म के अच्छे ग्राहक को सर्वप्रथम श्रेष्ठ धर्म बताया करें। विस्तार से साधुधर्म की विवेचना करें। ग्राहक के मन को अपील करे—वैसी विवेचना करें। सुनते सुनते साधु धर्म स्वीकार करने की इच्छा जगनी चाहिये! हां, साधुधर्म स्वीकार करने की शक्ति न हो और स्वीकार नहीं करे, यह बात दूसरी है। साधुधर्म से उसका लगाव हो जाना चाहिए।

साधुधर्म स्वीकारने में अशक्ति क्यों?

साधु धर्म अच्छा लगे, उपादेय लगे, फिर भी यदि जीवात्मा वैषयिक सुखों की पिपासावाला है और केशलुंचन, पादविहार आदि कष्टों से डरता है, तो वह साधुधर्म को स्वीकार नहीं करेगा। क्षमा, नम्रता, सरलता आदि धर्मों का पालन करने की अशक्ति से भी साधुधर्म स्वीकार नहीं करता है।

सभा में से : जो बात अच्छी लगे, उसको स्वीकार तो करना ही चाहिए न?

महाराजश्री : ऐसा नियम नहीं है। अच्छा लगना या बुरा लगना, वह मन के क्षेत्र की बात है, जबकि पालन करना मात्र मन की बात नहीं है, मन, वचन और शरीर-तीनों की बात है। साधुधर्म के पालन में जिस प्रकार मन की दृढ़ता चाहिए वैसे तन की—शरीर की दृढ़ता भी अपेक्षित होती है। ऐसा नियम नहीं होता है कि जिसका मन दृढ़ हो उसका शरीर भी दृढ़ ही हो। दृढ़ मनोबल वालों के शरीर कमजोर देखने में आते हैं।

दूसरी बात है मन की। जिस मन को संसार के भौतिक-वैषयिक सुख अच्छे लगते हैं, वह मन मोक्ष की इच्छा भी करता है कभी-कभी! वह मन साधु-धर्म को भी चाहता है।

प्रश्न : दो विरुद्ध इच्छायें एक मन में रह सकती है?

महाराजश्री : हां आपको पैसे कमाने की इच्छा होती है न? और दान देने की यानी पैसे त्याग करने की भी इच्छा होती है न? आपको खाने की इच्छा होती है वैसे कभी-कभी तप करने की इच्छा भी होती है न? वैसे संसार के सुखों की इच्छा और साधुधर्म अपनाने की इच्छा दोनों इच्छायें हो सकती हैं मन में। एक इच्छा कभी प्रबल होती है, दूसरी इच्छा मन्द होती है। वैषयिक सुख भोगने की प्रबल इच्छा होती है, तो साधु धर्म स्वीकारने की इच्छा मन्द होती है। संसार के सुखों की प्रबल इच्छा साधुधर्म की उपादेयता समझाने पर भी, जीव साधुधर्म को स्वीकार करने से रोकती है। एक भी वैषयिक सुख की

इच्छा, यदि तीव्र बनती है, तब साधुधर्म ही नहीं किसी भी धर्म की आराधना में उसका मन जुड़ता नहीं है। श्रेष्ठ देव-गुरु-धर्म का संयोग मिलने पर भी वह आत्मकल्याण की प्रवृत्ति में जुड़ नहीं पाते हैं।

गुजरात का राजा सिद्धराज (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) निःसंतान रहा। वृद्धावस्था में इस बात से वह बहुत ही व्यथित रहता था। उसकी पट्टरानी भी बहुत दुःखी थी। विशाल राज्य विपुल वैभव और निरोगी शरीर होने पर भी वह दुःखी था। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी जैसे कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव का उसको सान्निध्य मिला था, फिर भी वह व्यग्र रहता था।

एक दिन रानी ने सिद्धराज को कहा—'हे नाथ जो बात कर्मों के अधीन होती है, उसमें शोक करना व्यर्थ है। अपने पर देवों का अनुग्रह नहीं है, अपने भाग्य में पुत्र का सुख नहीं है। पूर्वजन्म में वैसा पुण्यकर्म नहीं किया होगा····तो फिर उसका फल कहां से मिलेगा ? फिर भी पुत्र प्राप्ति हेतु आप इतना अवश्य करें :—

१. गुरुजनों के प्रति ज्यादा भक्तिभाव रखें,

२. देवों की द्विगुणित पूजा करें,

३. इच्छित फल देने वाली तीर्थयात्रा करें।

इस प्रकार की विविध धर्मआराधना से, कभी भी पुत्र प्राप्ति का सुख मिल सकता है।

रानी की बात जँच गई सिद्धराज को। उसने तीर्थयात्रा करने का निर्णय किया। वह गुरुदेवश्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के पास गया और विनयपूर्वक तीर्थयात्रा के लिये साथ चलने का निमंत्रण दिया। आचार्यदेव ने उस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

पुत्र प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा :

रानी ने राजा को कितना अच्छा मार्गदर्शन दिया ! 'पुत्र का सुख पाना है तो धर्म की आराधना करो ! गुरुभक्ति, देवपूजा और तीर्थयात्रा करो !' और जब आचार्यदेव हेमचन्द्रसूरीश्वरजी से राजा ने तीर्थयात्रा में साथ चलने की प्रार्थना की, तो गुरुदेव ने भी स्वीकृति दे दी ! तीर्थयात्रा का उद्देश्य क्या आचार्यदेव नहीं जानते होंगे ? अवश्य जानते होंगे। परन्तु संसार के सुखों के लिए भी धर्म ही करने की जिनाज्ञा है। पाप करने का निषेध है धर्म करने का ही उपदेश है। अर्थ और काम भी धर्म से ही प्राप्त होते हैं। संविग्न गीतार्थ आचार्यदेव ने शास्त्रों में जगह जगह इस प्रकार धर्म का ही उपदेश दिया है। संसार के सुख पाने के लिए भी धर्म ही करने का उपदेश दिया है।

प्रश्न : धर्म तो मोक्ष पाने के आशय से ही करना चाहिये न ?

महाराजश्री : तो फिर अर्थ और काम (भोगसुख) पाने के लिए पाप करने चाहिये ? अर्थ (पैसा) और भोगसुख, पाप करने से मिलते हैं या धर्म करने से एक बात स्पष्ट समझ लो कि यदि मोक्ष पाने के लिए ही धर्म करना चाहिए,' ऐसा उपदेश देंगे तो जिनको मोक्ष का ज्ञान नहीं है, जिनको मोक्ष पाने की कोई इच्छा नहीं है ऐसे अज्ञानी जीव ऐसा समझेंगे कि 'धर्म तो उनके लिए है कि जिनको मोक्ष पाना है ! अपन को मोक्ष से कोई मतलब नहीं है''' इसलिये धर्म से क्या लेना-देना ?' वे लोग धर्म की राह छोड़ पाप के मार्ग पर चलते रहेंगे।

यदि हेमचन्द्रसूरिजी, सिद्धराज को कहते "राजन्, पुत्रसुख के लिये तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। पुत्रसुख के उद्देश्य से गुरुभक्ति नहीं करनी चाहिये'''पुत्रसुख के लक्ष्य से देवपूजा नहीं करनी चाहिये।" तो सिद्धराज क्या करता ? और ऐसा क्यों नहीं कहा गुरुदेव ने ? पुत्रसुख के उद्देश्य से राजा तीर्थयात्रा करने जा रहा था, उस तीर्थयात्रा में हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज शामिल क्यों हुए ? यदि इस प्रकार की तीर्थयात्रा जिनाज्ञा से विपरीत होती तो उनके जैसे सर्वज्ञसदृश आचार्य उस तीर्थयात्रा में शामिल ही नहीं होते।

यदि रानी राजा को पुत्रप्राप्ति के लिये धर्म का मार्ग नहीं बताती और आचार्यदेव अपनी अनुमति नहीं देते तो सिद्धराज, संभव था कि कोई मांत्रिक, तांत्रिक या कापालिक के पास चला जाता और कोई पाप प्रचुर प्रयोग कर लेता ! अथवा दूसरी शादी कर लेता'''अथवा वर्तमान में जैसे पुत्र प्राप्ति के लिये स्त्री की योनि में दूसरे पुरुष का वीर्य प्रक्षिप्त कर गर्भाधान कराया जाता है ··वैसा कोई अनैतिक · कुत्सित प्रयोग करबा लेता राजा।

इसलिये ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि, जिस मनुष्य के मन में मोक्ष की रूचि है, अथवा मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं है, ऐसे मनुष्य'''अर्थ और काम के लिये भी धर्मक्रिया कर सकते हैं। उनकी धर्मक्रिया विषक्रिया नहीं है, गरल क्रिया नहीं है।

तीर्थयात्रा से सिद्धराज शासनरागी बना :

आचार्यदेव के साथ सिद्धराज सपरिवार, शत्रुंजय गिरिराज पहुंचा। गिरिराज के दर्शन से राजा रोमांचित हो गया। गिरिराज पर चढ़कर उसने भगवान् ऋषभदेव के दर्शन किये। उसके हृदय में अपूर्व भक्ति-भाव पैदा हुआ। आचार्यदेव ने वहाँ नूतन काव्य रचना कर देवाधिदेव की अद्भुत स्तवना की।

वहाँ पर भगवान् ऋषभदेव की अद्भुत महिमा देख, सिद्धराज जिनशासन का परम भक्त बना। उसने सोचा : 'ऐसे उत्तम तीर्थ में यदि मनुष्य अपनी संपत्ति का व्यय नहीं करता है, तो फिर वह देवगति कैसे पा सकता है ?' उसने

भगवान् ऋषभदेव के पूजन-निमित्त बारह गाँव भेंट कर दिये ! सभी यात्रियों के लिये अन्न के सदाव्रत शुरू करवा दिये। लोगों को विपुल दान देकर, दरिद्रता मिटा दी !

बहुत उल्लास से यात्रा पूर्ण कर, वहाँ से गिरनार तीर्थ की ओर प्रयाण किया। गिरनार के पहाड़ पर जाकर सभी ने भगवान् नेमनाथ के दर्शन किये। दर्शन-पूजन कर राजा हर्षविभोर हो गया। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने नूतन काव्यों की रचना कर प्रभु की स्तवना की।

इन दो तीर्थों की यात्रा से सिद्धराज जिन धर्म के प्रति ज्यादा श्रद्धावाला बना।

सिद्धराज की इच्छापूर्ति हेतु आचार्यदेव अठ्ठम का तप करते हैं !

दो तीर्थों की यात्रा कर राजा वगैरह देवपत्तन पहुंचे। वहां राजा ने सोमेश्वर के दर्शन किये। वहां से सपरिवार वह 'कोडीनार' पहुंचा। कोडीनार में विश्वमाता समान देवी अम्बिका का मन्दिर था। देवी अम्बिका की महिमा चारों ओर फैली हुई थी। भक्तजनों की इच्छा को पूर्ण करने वाली वह देवी थी।

सिद्धराज के मन में पुत्र प्राप्ति की प्रबल इच्छा तो पड़ी ही थी। वह देवी अम्बिका से जानना चाहता था कि उसे पुत्र की प्राप्ति होगी या नहीं ? यदि पुत्र मेरे भाग्य में नहीं है तो मेरी मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कौन होगा ?

देवी से प्रत्युत्तर पाने के लिये साधना करनी पड़ती है। उच्च कोटि की आत्मा यदि साधना करे तो सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। अतः सिद्धराज ने आचार्यदेव से विनती की : 'गुरुदेव, मेरे पास राज्य, रत्न, स्वर्ण हाथी-घोड़े···· सब कुछ है, परन्तु एक बहुत बड़ी कमी है·· पुत्र नहीं है···। आप मेरे पर कृपा कर, इस देवी को प्रत्यक्ष कर पूछ लें कि मेरे भाग्य में पुत्र सुख है या नहीं ? और मेरी मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कौन होगा ?

राजा की विनम्र विनती को मान्य कर, आचार्यदेव ने तीन उपवास कर, देवी अम्बिका की साधना की। देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा : राजा के भाग्य में पुत्र नहीं। उसकी मृत्यु के बाद, त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल राजा बनेगा और वह सम्प्रति राजा की तरह जैन धर्म का व्यापक प्रचार करेगा।'

आचार्यदेव ने प्रभात में राजा को देवी का प्रत्युत्तर सुनाया। वह बहुत दुखी···निराश और विषादपूर्ण हो गया। और वहां से उसने गुरुदेव के साथ पाटन की ओर प्रयाण कर दिया।

पूज्य आचार्यदेव का जिनाज्ञानुसारी अभिगम :

सिद्धराज की विनती से आचार्यदेव ने अट्ठमतप की आराधना कर देवी अम्बिका को प्रसन्न किया। देवी से प्रश्न का उत्तर लेकर राजा की जिज्ञासा को पूर्ण किया। इस घटना के सन्दर्भ में अपन कुछ गहराई में जाकर सोचें।

सर्व प्रथम, अपन को कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव के प्रति श्रद्धा और उनकी जिनाज्ञाप्रतिबद्धता पर विश्वास होना चाहिए।

दूसरी बात, वे आचार्यदेव निःस्पृह और स्पष्टभाषी थे,' इस बात पर हमारा यकीन होना चाहिए। वे राजाओं की चापलूसी करने वाले नहीं थे— यह निर्विवाद बात है। वे राजाओं के माध्यम से सर्वज्ञभाषित धर्म का देश-विदेश में प्रचार करना चाहते थे, यह उनका मौलिक दृष्टिकोण था।

राजा की इच्छा को पूर्ण करने के लिए उन्होंने अट्ठमतप किया। इसमें उनका आशय स्पष्ट है। 'यदि मैं राजा की इच्छा पूर्ण करता हूँ तो उसका मेरे प्रति विश्वास दृढ़ होगा। मेरे प्रति विश्वास दृढ़ होगा तो मेरे वचनों पर विश्वास होगा। इससे उसका आत्महित होगा। वह धर्ममार्ग पर चलता रहेगा।

आचार्यदेव ने यह भी नहीं कहा कि : सिद्धराज, क्यों पुत्र को इतनी इच्छा रखता है ? यह इच्छा तो भवसंसार में भटकाने वाली है·· छोड़ इस इच्छा को और मोक्ष की इच्छा कर।' सम्भव है कि ऐसा उपदेश झाड़ने पर सिद्धराज को आचार्यदेव पर शंका होती— 'इस आचार्य ने तो मेरे पर ऐसा मन्त्र प्रयोग नहीं किया होगा कि मैं निःसंतान रहूं ? अन्यथा वे मुझे ऐसा उपदेश क्यों देते हैं ? क्या ये कुमारपाल के पक्ष में तो नहीं होंगे ?' वगैरह विकल्प हो सकते थे। महान् आचार्य दीर्घ दृष्टिवाले होते हैं। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सोचने वाले होते हैं। उनका अभिगम जिनाज्ञानुसारी होता है।

पहला उपदेश साधुधर्म का, अन्यथा 'अन्तरायदोष'

ग्रन्थकार आचार्यदेव कहते हैं कि समकित दृष्टि जीव को पहला उपदेश साधुधर्म का देना चाहिए। भव्य और भवभीरू जीव को साधुधर्म पसन्द आ सकता है। शक्ति-सामर्थ्य होने पर वह साधुधर्म को स्वीकार कर सकता है। ऐसे जीव को यदि साधुधर्म का उपदेश नहीं देते हुए सीधा गृहस्थधर्म का यानी अणुव्रतादि का उपदेश देने से, उस भव्य जीव की चारित्रधर्म की आराधना में अन्तराय करने का, विघ्न डालने का पाप गुरु को लगता है ! और इस प्रकार अन्तराय करने से भवान्तर में चारित्रधर्म प्राप्त होना दुर्लभ हो जाता है ! ग्रन्थकार ने कहा है—

सहिष्णोप्रयोगेऽन्तराय

'सहिष्णु' का अर्थ है समर्थ। जो साधुधर्म यानी चारित्रधर्म की आराधना करने के लिये समर्थ है, उसको अणुव्रतादि देने से (प्रयोगे) चारित्रधर्म की आराधना में अन्तराय होता है।

धर्म के उपदेशकों के लिए यह महत्वपूर्ण निर्देश है। व्यक्ति की योग्यता देखकर ही उपदेश देने का है। परन्तु यह बात व्यक्तिगत उपदेश की है। मान लो कि मेरे पास कोई मुमुक्षु जीव आया। मुझे लगा कि यह जीव भव्य है, भवभीरु है। तो मुझे सर्वप्रथम उसको साधुधर्म का उपदेश देना चाहिये। विस्तार से साधुधर्म समझाना चाहिये। समझाने पर भी यदि वह साधुधर्म को स्वीकार करने से इन्कार कर दे तो फिर अणुव्रतादि का उपदेश देना चाहिए।

कोई ऐसा धर्मजिज्ञासु व्यक्ति आये कि जिस में मुझे कोई पाप-भीरुता जैसी मौलिक योग्यता नहीं दिखाई दे, तो मुझे उसको साधुधर्म का उपदेश नहीं देना चाहिये, परन्तु अणुव्रतादि का उपदेश देना चाहिये।

भव्य और भवभीरु जीव को चारित्रधर्म का उपदेश नहीं देते हुए, यदि अणुव्रतादि गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाय और वह मनुष्य अणुव्रतादि स्वीकार कर लेता है तो उपदेशक गुरु को एक दूसरा दोष लगता है—सावद्य अणुमति का ग्रन्थकार आचार्यदेव ने कहा है—

"अणुमतिश्चेतरत्र।"

बहुत समझने की बात है यह।

दूसरा दोष लगता है "पाप में अणुमति का"

साधु धर्म को स्वीकार करने की शक्ति होने पर भी, गुरु के उपदेश से जिसने गृहस्थधर्म को स्वीकार किया, वह गृहस्थ जीवन में जो जो पाप किया, उन पापों में, उस गुरु की अनुमति हो जाती है! चूंकि सर्व पापों के त्याग रूप साधुधर्म का उपदेश जो देना था और उसको साधु बनाना था, वह नहीं बनाया। जितने पापों का त्याग किया उसने, (बारह व्रतों का स्वीकार कर) उतने अंश में बच गये! जिन पापों का त्याग नहीं किया; उन पापों में गुरु की अनुमति हो गई! चूंकि वे पाप छोड़ने का गुरु ने उपदेश नहीं दिया!

कहिये, अब आप जैसे भव्य और भवभीरु जीवों को मैं साधुधर्म का ही उपदेश दूँ न? निष्पाप साधुजीवन की बातें सुनने में आप को आनन्द आयेगा न?

प्रश्न : हम में से कोई व्यक्तिगतरूप में आप से धर्म पाने के लिए आये तो आप साधुधर्म का उपदेश देना! यहां तो हमें सच्चे मनुष्य बनने का ही उपदेश दें!

महाराजश्री : मुझे भी तुम्हारी इच्छा-जिज्ञासा जानकर ही उपदेश देना है मैं भी यह चाहता हूँ कि आप सच्चे मनुष्य बनें, सच्चे श्रावक बनें और बाद में सच्चे साधु बनें। फिर भी मुझे विश्वास है कि आप लोगों को प्रायः साधुधर्म की बातें प्रिय लगेगी। अपन करेंगे कभी-कभी वे बातें।

साधु धर्म की ऐसी बातें सुनकर कभी डाकू भी साधु बन गये हैं। हाँ, कभी मानवता और साधुता—दोनों साथ-साथ आ जाती है मनुष्य के जीवन में। इसलिए उपदेशक साधुपुरुष को उपदेश देने में सावधानी बरतने की है।

तीसरी एक बात ग्रंथकार महात्मा बता रहे हैं।

गृहस्थ धर्म का उपदेश नहीं दे तो भी दोष !

साधु धर्म का उपदेश दिया किसी भव्य आत्मा को। परन्तु वह मनुष्य साधु धर्म स्वीकार करने तत्पर नहीं हुआ। उपदेशक सोचे कि "यह तो कायर पुरुष है। इतना मैंने साधुधर्म समझाया···फिर भी कायरता की बातें करता है ···· जाने दो, इसको अणुव्रतादि का उपदेश क्या देना ? नहीं देना है ? इसको अणुव्रत आदि का उपदेश · !' इस प्रकार यदि धर्म गुरु उपदेश नहीं देता है तो वह जिनाज्ञा का भंग करता है। परमात्मा के धर्मशासन का नाश करने वाला बनता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि या तो साधुधर्म का उपदेश दिया जाय, योग्यता देखते हुए, उपदेश देना चाहिए। उपदेशक गुरु में, अपने पास आने वाले धर्म-जिज्ञासु की योग्यता को परखने की दृष्टि होना अनिवार्य है।

प्रश्न : आप के पास आने वाला मनुष्य साधुधर्म को जैसे स्वीकार करने में तत्पर नहीं बनता, वैसे यदि गृहस्थधर्म रूप अणुव्रतादि ग्रहण करने में भी तत्पर नहीं बनता है तो आपको दोष लगता है क्या ?

महाराजश्री : नहीं हमारा कर्तव्य विधिवत् उपदेश देने का है। उपदेश देने पर भी मनुष्य, कोई भी धर्म (साधुधर्म या गृहस्थधर्म) ग्रहण नहीं कर पाता है, तो हमें कोई दोष नहीं लगता है। हम विधिवत् उपदेश नहीं देते हैं और हमारे पास आनेवाला व्यक्ति धर्म से वंचित रह जाता है, तो हमें दोष लगता है।

—साधुधर्म का हम उपदेश नहीं देते हैं और साधु धर्म का पालन करने की शक्ति होने पर भी साधुधर्म से जीव वंचित रह जाता है।

—गृहस्थ धर्म का पालन करने की शक्ति होने पर भी, उस जीव को हम गृहस्थधर्म का उपदेश नहीं देते हैं और वह गृहस्थधर्म से भी वंचित रह जाता है····तो धर्मोपदेशक गुरु को जिनाज्ञा का भंग करने का दोष लगता है।

इस विषय में 'जिनाज्ञा' क्या है— अगले अंक में

(क्रमशः)

वसुदेवहिंडी और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह

डा० जगदीश चन्द्र जैन

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, जो बृहत्कथा का नेपाली संस्करण कहा जाता है, की रचना संस्कृत में लगभग पाँचवीं शताब्दी में हुई। लेकिन गुणाढ्य की बृहत्कथा का रूपान्तर होने से इसकी सामग्री ईसा की प्रथम शताब्दी की मानी गयी है। यही बात संघदासगणिवाचक के वसुदेवहिंडी के समय के सम्बन्ध में कही जा सकती है। आवश्यकचूर्णीकार जिनदासगणि महत्तर (६७६ ई०) ने ऋषभदेव के चरित्रवर्णन-प्रसंग तथा वल्कलचीरी और प्रसन्नचन्द्र के कथावर्णन में वसुदेवहिंडी को आधार रूप में उद्धृत किया है। इससे इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वसुदेवहिंडी में अंधकवृष्णि वंशोत्पन्न कृष्ण के पिता वसुदेव और बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त—दोनों देश-देशान्तरों में परिभ्रमण कर विद्याधरों और राजकन्याओं से विवाह करते हैं। संघदासगणि-वाचक के वसुदेवहिंडी में वसुदेव के २९ और धर्मसेनगणि के मध्यम खण्ड में उनके ७१ विवाहों का वर्णन है।[१] वसुदेवहिंडी की भाँति बृहत्कथाश्लोक-संग्रह

---

१. धर्मसेनगणि महत्तर ने वसुदेवहिंडी के मध्यम खण्ड की प्रस्तावना में सूचित किया गया है—"वसुदेव ने १०० वर्ष तक परिभ्रमण करके १०० कन्याओं से विवाह किया। संघ दासगणि वाचक ने श्यामा से लेकर रोहिणी तक २९ लंभकों में २९ विवाहों का वर्णन किया है। शेष ७१ विवाहों को विस्तार भय से उन्होंने छोड़ दिया है। लौकिक शृंगार कथा की प्रशंसा को सहन न करके मैंने, आचार्य के समीप निश्चय करके प्रवचन के अनुराग से, आचार्य के आदेश से, मध्यम के लंभकों के साथ कथासूत्र को जोड़ा है।" मुनि पुण्यविजयजी की संशोधित हस्तलिखित प्रति, पृ० ४-५। इसका मतलब है कि धर्मसेन ने वसुदेवहिंडी के २९वें लंभक के बाद से अपने कथासूत्र का आरम्भ नहीं किया। उन्होंने एणीपुत्रक नामक राजा की पुत्री प्रियंगुसुन्दरी नामक लंभक के साथ अपने ७१ लंभकों को जोड़ा है। यही कारण है, यह ग्रन्थ मध्यम खण्ड नाम से कहा जाने लगा।

भी अपूर्ण है और यहाँ लेखक २८ विवाहों में से केवल ६ का वर्णन कर सका है। वसुदेवहिंडी में छह प्रकरण हैं—कथोत्पत्ति, धम्मिल्लहिंडी, पेढ़िया, मुख, प्रतिमुख और शरीर। कथोत्पत्ति, पीठिका और मुख में कथा का प्रस्ताव, प्रतिमुख में वसुदेव की आत्मकथा और शरीर में २९ लंभकों की कहानियाँ हैं। अंतिम लंभक त्रुटित तथा १९ और २० लंभक अनुपलब्ध हैं। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह जिसका केवल एक चतुर्थांश ही उपलब्ध है—में तीसरे सर्ग का नाम कथामुख है। वसुदेवहिंडी के तीसरे लंभक में गंधर्वदत्तालंभक तथा तेरहवें और पन्द्रहवें लंभकों में वेगवतीलंभक का वर्णन है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में तेरहवें और चौदहवें सर्ग में वेगवतीदर्शन और पन्द्रहवें में वेगवतीलाभ, तथा सोलहवें सर्ग में गंधर्वदत्ता-लाभ, व चंपाप्रवेश और सत्रहवें सर्ग में गंधर्वदत्ताविवाह नामक प्रकरण हैं। दोनों ही रूपान्तरों में गंधर्वदत्ता वणिक की पुत्री है। वसुदेवहिंडी में कालिंगसेना पुत्री है। की गणिकापुत्री सुहिरण्या और बृहत्कथा श्लोकसंग्रह में कलिंगसेना महागणिका की पुत्री मदनमंजुका के वर्णन में बहुत समानता है। काश्मीरी रूपान्तरों में मदनमंजुका को एक बौद्ध राजा की दौहित्री बताया है। दोनों ही संस्करणों में गोमुख नायक के मित्र के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (२५वां सर्ग) में तो उसके विग्रह का आख्यान वर्णित है। वसुदेवहिंडी में बृहत्कथा की काव्यशक्ति और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की लाक्षणिकता के दर्शन होते हैं।

विद्याधरों के पराक्रम

वसुदेवहिंडी और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह दोनों ही रचनाओं में विद्याधर जाति के लोगों का वर्णन है।

कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेवभट्ट ने गुणाढ्य की बृहत्कथा को अपनी रचना का मूलाधार बताते हुए कैलाश पर्वत पर विराजमान शिव और पार्वती के संवाद का उल्लेख किया है। पार्वती शिवजी से कोई रम्य कथा सुनाने का अनुरोध करती है। अपनी पत्नी के अनुरोध को स्वीकार कर वे विद्याधरों की कथा सुनाते हैं; देवतागण सदा सुख में और मानव जाति के लोग सदा दुःख में डूबे रहते हैं, अतएव दोनों के ही चरित उत्कृष्ट रूप से मनोहर नहीं होते। यह जानकर शिवजी सुख-दुःख से मिश्रित विद्याधरों के अपूर्व और अद्भुत चरित सुनाना ही पसन्द करते हैं।[१]

---

१. एकांतसुखिनो देवा मनुष्या नित्यदुःखिता।
दिव्यमानुषचेष्टा तु परभागे न हारिणो॥
विद्याधराणां चरितमतस्ते वर्णया है—१. १. ४७—८

गुणाढय के पूर्व भी लेखकों ने देवी-देवताओं के चरितों की रचनाएँ की होंगी लेकिन कालान्तर में पाठक इन चरितों को सुनते-सुनते ऊब गये। अतएव गुणाढय ने प्राचीन आख्यानों की परम्परा से हटकर विद्याधरों के अद्भुत चरित्रों का वर्णन करना हितकारी समझा। वत्सराज उदयन के पुत्र और विद्याधरों के अधिपति नरवाहनदत्त के साहसिक कार्यों का यहाँ वर्णन किया गया है।

प्राचीन जैन कथा-साहित्य में विद्याधरों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वे आकाशगामी (खेचर) होने के कारण श्रेष्ठ विमानों द्वारा यात्रा किया करते हैं। जैनधर्म के उपासक होने के कारण वे नन्दीश्वर या अष्टापद (कैलाश) की यात्रा के लिए गमन करते हैं। वे श्रमणदीक्षा भी स्वीकार करते हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव को विद्याधरों का पालक बताया गया है। अनेक विद्याएँ उन्होंने विद्याधरों को प्रदान कीं।

मानवों के साथ विद्याधरों के सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध बताये गये हैं।[१] दोनों में सौहार्द था और शादी-विवाह तक होते थे। यदि कोई विद्याधर किसी अनगार (जैनसाधु), या दम्पति को कष्ट पहुँचाये अथवा किसी परयुवति का जबरदस्ती से अपहरण करे तो उसकी विद्या से भ्रष्ट हो जाने की आशंका रहती थी। विद्याधरगण जब धरण नामक नागेन्द्र का कोप शान्त करने उसके पास पहुँचे तो धरण ने उन्हें फटकारते हुए कहा—"देखो, आज से विद्याओं के सिद्ध करने से ही वे तुम्हारे वश में होंगी। लेकिन यदि विद्यासिद्ध होने पर जिनगृह, अनगार अथवा किसी दम्पति का नुकसान करोगे तो विद्याओं से भ्रष्ट हो जाओगे। इस विज्जुदाढ़ नामक विद्याधर नरेश के वंश में पुरुषों को महाविद्याएँ सिद्ध नहीं होंगी, स्त्रियों को भी दुखपूर्वक सिद्ध होंगी अथवा देव, साधु और महापुरुष के दर्शन से सुखपूर्वक सिद्ध हो सकेगी।[२]

कथा-प्रसंगों की समानता

१. कोक्कास बढई

(अ) वसुदेवहिंडी : ताम्रलिप्ति में धनद नामक बढई। पुत्रोत्पत्ति। दरिद्रता के कारण माता-पिता की मृत्यु; धनपति सार्थवाह के घर पुत्र का

---

१. सर्प से दष्ट सामदत्ता ने विद्याधर युगल के स्पर्श मात्र से चेतना प्राप्त की। वसुदेवहिंडी पृ० ४७

२. वही पृ० २६४, २२७। कथासरित्सागर में अपनी विद्या की शेखी बघारने के कारण विद्याभ्रष्ट हुए जीमूतवाहन की कथा आती है। भरहुत के शिलालेखों (२०९ में विद्याधरों का उल्लेख है। विद्या और विद्याधरों के लिये देखिए, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३४३-५२, कुवलयमाला २१७, ११८, पृ० १३१-३२,

पालन। कंडिकशाला में कुक्कुस (अथवा कुकुस) भक्षण करने के कारण कोक्कास नाम।१ धनपति सार्थवाह के पुत्र धनवसू का यवन देश की यात्रा के लिए यान-पात्र सज्जित। कोक्कास भी साथ में। यवनदेश पहुँचकर व्यापार। कोक्कास पड़ोस के एक बढ़ई के घर दिन व्यतीत करता। अपने पुत्रों को वह अनेक प्रकार के शिल्प कर्म की शिक्षा देता लेकिन वे न सीखते। कोक्कास बीच-बीच में उनकी सहायता करता। आचार्य ने कोक्कास को काष्टकर्म की शिक्षा दी। कोक्कास का ताम्रलिप्ति-आगमन। ताम्रलिप्ति में दुष्काल। कोक्कास ने अपनी आजीविका चलाने और राजा को अपनी शिल्पकला का ज्ञान कराने के लिए कपोत युगल सज्ज किये। ये कपोत प्रतिदिन राजा के कलमशालि लेकर आ जाते। कोक्कास के यंत्रमय कपोत युगल शालि चुग जाते हैं, इस बात का पता लगने पर शिल्पी को राजदरबार में उपस्थित किया गया। राजा ने सन्तुष्ट होकर उसका सम्मान किया। राजा की आज्ञा से आकाशगामी यंत्र सज्जित किया गया। आकाश की सैर करते हुए दोनों का कालयापन। राजा के साथ सैर करने की महारानी की इच्छा। कोक्कास ने निवेदन किया कि यंत्र तीसरे आदमी का भार वहन नहीं कर सकता। रानी का पुनः अनुरोध। राजा रानीको साथ लेकर चला। कुछ दूर उड़ने पर यंत्र के बिगड़ जाने से वह पृथ्वी पर आ गिरा। तोसलि नगर में कोक्कास यंत्र को ठीक करने के औजार लेने गया। बढ़ई के घर पहुँच उसने बासी माँगी। बढ़ई ने कहा कि वह राजा के लिए रथ बना रहा है, बासी नहीं मिल सकती। कोक्कास ने कहा—लाओ, तुम्हारा रथ मैं बना दूं। बढ़ई समझ गया कि वह कोक्कास होना चाहिए। उसने काकजंघ राजा को कोक्कास के आने का समाचार दिया। काकजंघ ने राजा और रानी को कैद कर लिया। कोक्कास से राजकुमारों को शिल्पकला की शिक्षा दिलवायी। कोक्कास ने आकाशगामी दो घोटक यंत्रों का निर्माण किया। एक बार कोक्कास सोया हुआ था, तो राजकुमार घोटक यंत्र लेकर आकाश में उड़ गये। उनके पास यंत्र को वापिस लौटाकर लाने की कील नहीं थी, अतः मरण अवश्यंभावी था। राजा ने कोक्कास के वध की आज्ञा सुनायी। एक राजकुमार ने कोक्कास को यह दुखद समाचार सुनाया। कोक्कास ने चक्रयंत्र सज्जित किया। कुमारों को उस पर सवार हो जाने को कहा। उसने बताया कि जब वह शंख फूँके तो शंख की ध्वनि सुनकर वे बीच की कील पर प्रहार करें। ऐसा करने से यान आकाश में

---

१. कुक्कुस, कुक्कस कुक्कास, कोक्कस, कोकस, केक्कास, कोकास कोक्कोस और कोक्कास पाठान्तर है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में पुक्कस।

उड़ जायेगा। राजकुमार यान में सवार हो गये। वध के लिए ले जाते समय कोक्कास ने शंख की ध्वनि की। राजकुमारों ने बीच की कील पर प्रहार किया और वे चक्रयंत्र की शूली में बिंधकर मर गये। कोक्कास का वध कर दिया गया।[१]

(आ) **बृहत्कथाश्लोकसंग्रह** : उदयन की रानी पद्मावती ने विमान में सवार हो पृथ्वी के भ्रमण की इच्छा व्यक्त की। उदयन के मन्त्री रुमण्वत ने शिल्पियों को बुलाकर आकाशगामी यन्त्र तैयार करने का आदेश दिया। शिल्पियों ने उत्तर दिया कि वे केवल जलयन्त्र अश्मयन्त्र, पांशुयन्त्र और काण्ड-राशिकृत यन्त्र इन चार प्रकार के यन्त्रों[२] का ही निर्माण करना जानते हैं; आकाशयन्त्र यवनदेशवासी ही बना सकते हैं।[३] महासेन का पुक्कस नामक बढ़ई सेना के साथ सौराष्ट्र गया हुआ था। वहाँ विश्वल नामक एक कुशल शिल्पी

---

१. पृ० ६१-६३। आवश्यक निर्युक्ति, ९२४ में शिल्पसिद्धि में कोक्कास बढ़ई का दृष्टान्त दिया है। आवश्यकचूर्णी पृ० ५४१ में यह कहानी कुछ हेरफेर के साथ मिलती है। कोक्कास को यहाँ शूर्पारक का निवासी बताया है जो उज्जयिनी में आकर रहने लगा था। यवन देश में जाकर शिल्प सीखने की बात का यहाँ उल्लेख नहीं है। राजा अपनी महारानी के साथ आकाश की सैर करता इसलिये अन्य रानियों ने ईर्ष्यावश यंत्र की कील छिपा दी जिससे यंत्र जमीन पर गिर पड़ा। देखिये, दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ (प्रथम संस्करण) 'कोक्कास बढ़ई कहानी।

२. कथासरित्सागर ६. ३. १७. २२ में अनेक प्रकार के मायायंत्रों का उल्लेख है। काष्ठ की बनी हुई यंत्र पुत्तलिका चाबी घुमाने से आकाश में उड़ जाती थी, कोई नाचने लगती थी और कोई वार्तालाप करने लगती थी। अपने पति की सेवा के लिए सोमप्रभा ने आकाशमार्ग से उड़कर अपने घर गमन किया। बृहत्कल्पभाज्य (४.४९१५) में यवन देश में यंत्रमय प्रतिमाओं के निर्माण करने का उल्लेख है।

३. इससे यवन देश के साथ भारत के सम्बन्धों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना सूचित होता है। वसुदेवहिंडी (पृ० ३८-३९) में कौशाम्बी में यवनदेश के अधिपति द्वारा भेजे हुए दूत के आगमन का उल्लेख है। कौशाम्बी के राजा ने उसका आदर-सत्कार किया। राजा के पुत्र आनन्द को रुग्न देखकर यवनदूत ने उसके विषय में प्रश्न किया। उसने कहा कि क्या उस देश में औषधियाँ नहीं मिलती अथवा वैद्य नहीं हैं जो राजपुत्र की यह दशा है। उसने नव उत्पन्न अश्वकिशोर के रक्त में थोड़ी देर के लिए रोगी को रखने के लिए कहा।

से उसकी भेंट हुई। पुक्कस ने सर्वगुण सम्पन्न अपनी रत्नावली नाम की कन्या का उसके साथ विवाह कर दिया। विश्विल ने जंगल में से लकड़ियाँ काटकर उनसे यवनयन्त्रों (यावनानि यंत्राणि) का निर्माण किया। आरोग्य प्रदान करने वाले और भोजन बनाने के उपकरण तैयार करके उनसे जो धन की प्राप्ति होती, उसे उपने श्वसुर को दे देता। एक बार विश्विल काशी देश के राजा का आदेश पाकर देवकुल के निर्माण के लिए वाराणसी गया। विश्विल वहाँ से कुक्कुटयन्त्र में बैठकर रात्रि के समय चुपचाप अपनी पत्नी से मिलने आता और सुबह होने के पूर्व ही लौट जाता। एक बार दूतों ने उसे देख लिया। उनके पाँव पकड़कर विश्विल ने उसके आकाशतन्त्र द्वारा आगमन की बात किसी से न कहने की प्रार्थना की; क्योंकि यह विज्ञान यवनदेश के लोगों के सिवाय और किसी को ज्ञात नहीं था।[१] कुछ दिनों बाद विश्विल आकाशयन्त्र में सवार हो वाराणसी से लौट आया। पुक्कस ने विश्विल को बताया कि राजा चाहता है कि जो आकाशयन्त्र विज्ञान उसने अपने जामाता को सिखाया है, उसे वह उसके शिल्पियों को भी सिखा दे। लेकिन पुक्कस ने कहा कि यह विज्ञान उसके जामाता ने यवन के शिल्पियों से सीखा है। इस पर राजा ने कुपित होकर पुक्कस को मृत्युदण्ड की धमकी दी। विश्विल ने अपनी पत्नी से कहा—"राजा आकाशयन्त्रविज्ञान सीखना चाहता है, लेकिन इस विज्ञान को हमें इसी प्रकार छिपाकर रखना चाहिए जैसे कृपण धन को रखता है। इसकी रक्षा के लिए मैं तुम्हें तक छोड़ने को तैयार हूं।" तत्पश्चात् रात्रि के समय अपनी भार्या के साथ कुक्कुटाकार यान में सवार हो विश्विल अपने स्थान को चला गया। उधर राजा के शिल्पियों को यन्त्र का निर्माण करने में असमर्थ देख सेनापति ने उनकी बहुत ताड़ना की। इस समय किसी आगन्तुक ने वहाँ उपस्थित हो गरुड़ाकार यन्त्र का निर्माण किया। यन्त्र की मंदार के पुष्पों से पूजा की गयी। राजा ने रानी से कहा कि यन्त्र तैयार हो गया है, और वह इच्छानुसार आकाश की सैर कर सकती है। शिल्पी ने निवेदन किया कि वह यन्त्र समस्त नगरवासियों का भार वहन करने में सक्षम है। राजा का समस्त अन्तःपुर, अपनी स्त्रियों सहित मंत्रीगण, और पुरवासी यन्त्र में सवार हो पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। सारी पृथ्वी में घूमकर राजा अवन्ती नगरी में आया। महासेन राजा द्वारा विश्विल का बहुत सम्मान किया गया।[२]

---

१. यवनों के 'खटवाघटनविज्ञान' का भी यहाँ उल्लेख है। लाकोत के अनुसार, यूनानी लोग अपनी खाट को मेज के रूप में परिवर्तित कर सकते थे।

२. ५. १९६-२९७. पृ० ६५-७५

२. पुरुषों के भेद

(अ) **वसुदेवहिंडी** : कृष्णपुत्र शंब अपने सखा जयसेन और बुद्धिसेन नामक राजकुमारों के साथ रथ में सवार हुए जा रहे थे। तीनों में वार्तालाप हो रहा है—

जयसेन—(शंब को लक्ष्य करके) आर्यपुत्र ! बुद्धिसेन बिचारा सीधा-सादा है, वह बात करने में ही कुशल है। जो कष्ट सहन नहीं कर सकता, वह कुपुरुष है।

बुद्धिसेन—जैसे अंधपुरुष को किसी रूप-रंग का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही तुम भी पुरुषों के ज्ञान से वंचित हो।

जयसेन—अच्छा, तू जानता है तो बता कि पुरुष कितने प्रकार के होते हैं ? तेरी बुद्धि का पता चल जायेगा।

बुद्धिसेन—अर्थ, धर्म और काम की अपेक्षा पुरुष के उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन भेद किये गये हैं। जो पिता और पितामह के द्वारा उपार्जित धन का उपभोग करता हुआ भी उसमें वृद्धि करता है, वह उत्तम, जो उसे क्षीण नहीं होने देता, वह मध्यम और जो उसे खा-पका कर खत्म कर देता है, उसे अधम पुरुष कहा जाता है। धर्म की अपेक्षा पुरुषों के उत्तम और मध्यम—ये दो भेद किये गये हैं। स्वयंबुद्ध उत्तम और बुद्धों द्वारा बोधित पुरुष मध्यम है। काम की अपेक्षा पुरुषों के तीन भेद हैं। जो स्वयं कामना करता है और उसकी भी कामना की जाती है, वह उत्तम; जिसकी कामना की जाती है, लेकिन जो स्वयं कामना नहीं करता वह मध्यम; तथा जो स्वयं कामना करता है लेकिन उसकी कामना नहीं की जाती, उसे अधम कहा गया है।

जयसेन—आर्यपुत्र शंब इन तीनों में से कौन से हैं ?

बुद्धिसेन—अर्थ और धर्म के बारे में कुछ कह सकना कठिन है; हाँ, काम के बारे में उन्हें मध्यम कहा जा सकता है।

जयसेन—और स्वयं तुम कौन से हो ?

बुद्धिसेन—उत्तम !

जयसेन—(क्रुद्ध होकर) अरे पंडितमन्य ! तू अपने आपको उत्तम और स्वामी को मध्यम कहता है ! बस, यही तेरी शिक्षा है ?

बुद्धिसेन—तुम समझते नहीं ! जो दूसरों द्वारा कामना किये जाने पर स्वयं कामना नहीं करता, उसे मध्यम कहते हैं।

जयसेन—अच्छा, बताओ, स्वामी की कौन कामना करता है ?

बुद्धिसेन— नहीं बताऊँगा। यदि वे स्वयं पूछें तो कहूँगा।

शंब—अच्छा कहो, मैं ही पूछ रहा हूँ।[१]

(आ) **बृहत्कथाश्लोकसंग्रह :** गोमुख, मरुभूतिक, तपन्तक और हरिशिख नामक मित्रों[२] के साथ रथ में सवार हो नरवाहनदत्त ने यात्रा के लिए प्रस्थान किया। धर्म, अर्थ और काम में इच्छा सुखात्मक काम की मुख्यतापूर्वक कामशास्त्र के पंडितों ने चार प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया है— उत्तम, मध्यम, हीन और नकेचन। गोमुख को उत्तम और आर्यपुत्र को मध्यम कोटि का बताया गया। इसपर मरुभूति ने क्रुद्ध होकर गोमुख को फटकारा—

तुम बैल-के-बैल रहे जो तुम अपने आपको उत्तम और आर्यपुत्र को मध्यम कहते हो। अपने आपको अपने प्रभु से बढ़कर बताते हो?

गोमुख ने उत्तर दिया— तुम वज्रमूर्ख हो मरुभूति। क्या कोई प्रभु होने मात्र से उत्तम कामुक हो जाता है? देखो, जिसकी कामना की जाती है और जो कामना करता है, वह उत्तम (जैसे-मैं); जो कामना नहीं करता और उसकी कामना की जाती है, वह मध्यम (जैसे-आर्यपुत्र): और जो किसी की कामना करता है और उसकी कामना नहीं की जाती, वह अधम, तथा न जिसकी कामना की जाती है और न वह किसी की कामना करता है, वह नकेचन पुरुष हैं। इनमें तुम नकेचन की श्रेणी में आते हो।[३]

३ गणिका पुत्री की कथा

(अ) **वसुदेवहिंडी :** कालिन्द सेना गणिका की पुत्री सुहिरण्या : शंब बुद्धिसेन, जयसेन और सुदारक के साथ बड़ा होने लगा। एक बार शंब को वासुदेव कृष्ण के पादवन्दन के लिये लाया गया। कृष्ण बालक को खिलाने लगे। कालिंद सेना भी अपनी कन्या सुहिरण्या को कृष्ण के पादवन्दन के लिए लायी।

---

१. पृ० १०१

२. वसुदेवहिंडी में हरिशिख, वराह, गोमुख, तपंतक और मरूभूतिक नाम आते हैं।

३. यः काम्यते च कामी च स प्रधानमहं यथा।
अकामी काम्यते यस्तु मध्योऽसावार्यपुत्रवत्॥
यस्तु कामयते कांचिदकामां सोऽधमः स्मृतः।
ते नकेचन भण्यन्ते ये न काम्या न कामिनः।

वासुदेव ने पूछा—कालिदसेना ! यह तुम्हारी कन्या है ?

कालिदसेना—जी महाराज !

वासुदेव ने सुहिरण्या को कुमार शंब के पास छोड़ देने को कहा।

दोनों ने एक दूसरे को आलिंगन किया। कृष्ण ने मन्त्री की ओर देखा। मन्त्री ने कहा—ठीक ही है। कालिदसेना बोली—महाराज ! यह कंचनपुर के अधिपति हेमांगद की कन्या है, इसे कुमार की सेविका बनाने का अनुग्रह करें।

कृष्ण ने कौटुम्बियों को आदेश दिया—देखो, सुहिरण्या मेरी पुत्रवधू है, कुमार की भाँति इसकी भी संभाल करना।[१]

शंब ने बुद्धिसेन आदि मित्रों के साथ कलाओं की शिक्षा प्राप्त की। युवावस्था को प्राप्त होने पर वह दूसरे वासुदेव के समान जान पड़ने लगा। कुमार द्वारा धारण किये हुए पुष्पशेखर को बुद्धिसेन उससे मांगकर कहीं ले जाता। इसी प्रकार उसके बदले हुए वस्त्र तथा खाने से बचे हुए मोदकों को वह अन्यत्र ले जाता यह कहकर कि वह उन्हें खायेगा।

एक बार रत्नकरंडक उद्यान में सुहिरण्य और हिरण्या गणिका पुत्रियों का नृत्य होने वाला था। शंब अपने मित्रों के साथ रथ पर सवार हो उद्यान में पहुँचा। सुदारक उसका सारथि बना। मार्ग में रथ का पहिया ठीक करने के लिए रथ को खड़ा किया। एक कन्या ने आकर कुमार के मुकुट से लटकते हुए फुंदों को अपने दोनों हाथों से ऊपर कर दिया।[२] उद्यान में पहुँच हिरण्या और सुहिरण्या का मनोहारी नृत्य देखा।[३] शंब ने हिरण्या की ओर इस प्रकार दृष्टिपात किया जैसे कामदेव रति की ओर करता है। तत्पश्चात् शंब ने मित्रों के साथ नगरी के लिए प्रस्थान किया।[४]

बुद्धिसेन ने हाथ में पोथी-पुस्तक लिए हुए ५ पुरुषों को देखा। आपस में वे कह रहे थे—देव की आज्ञा है कि द्वारका में जितने मूर्ख हों और जितने पंडित हों, इन सब के नाम लिखकर भेजे जायें। यह बुद्धिसेन यदि रथ में सवार हो जाता है तो इसका नाम पण्डितों की सूची में लिखा जायगा अन्यथा मूर्खों की।" यह सुनकर बुद्धिसेन रथ पर सवार हो गया। मार्ग में नयनाभिराम दृश्य देखता

---

१. पृ० ९८

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह १०, १५-२३, पृ० ११६

२. वृहत्कथाश्लोकसंग्रह (१०,२६१) में मुकुट को ऊपर करने का उल्लेख है।

३. तुलनीय बृहत्कथालोकसंग्रह १०, २७१ पृ० १३५; तथा ११वाँ सर्ग।

४. वसुदेवहिंडी, पृ० १०१।

५. मूलपाठ है 'पत्तलिवासणहत्थे।'

हुआ वह आगे बढ़ा। आगे चलकर मत्त गज पर आरूढ़ एक महावत ने हाथी को वश में रख सकने की असमर्थता बताते हुए सारथि से रथ लौटाने का अनुरोध किया। रथ गणिकाओं के आवास में से होकर गुजरा। तरुणों के ईर्ष्या प्रणयकोप और प्रसादन के वचन सुनते हुए बुद्धिसेन ने एक तोरण युक्त भवन में प्रवेश किया। वहाँ दासियों से परिवृत्त एक कन्या दिखायी दी। कन्या ने प्रणाम पूर्वक उसका स्वागत किया और उसके पदों का प्रक्षालन कर आसन पर बैठाया भोगमालिनी परिचारिका को बुलाया गया। वह बुद्धिसेन को गर्भगृह में ले गयी शयनारूढ़ होने पर वह उसके पादों का संवाहन करने लगी। बुद्धिसेन वहाँ बार-बार जाने लगा।

सुहिरण्या बचपन से ही शंबकुमार को दे दी गई थी। क्रम से उसने यौवनावस्था को प्राप्त किया। वासुदेव कृष्ण ने कालिन्दसेना को उसकी कन्या को उसके अभ्यन्तरोपस्थान (गर्भगृह) में भेजने का आदेश दिया। एक बार वह अपनी माता के साथ चली। माता के मना करने पर भी न मानी। गर्भगृह में पहुंच सुहिरण्या ने गले में फाँसी लगा ली। दैवयोग से भोगमालिनी वहाँ उपस्थित थी। उसने उसका रज्जुपास हटा दिया। जब वह होश में आई तो भोगमालिनी ने आत्मघात करने का कारण जानना चाहा। सुहिरण्या ने उत्तर दिया—"बाल्यावस्था से ही मैं कुमार को दे दी गई हूँ। बड़ी होने पर देवोपस्थान में गये हुए कुमार को कभी-कभी देख लेती थी लेकिन अब तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।" ये सब बातें भोगमालिनी ने उसकी माँ से कहीं। उसने मित्रों, हस्त्यारोहकों और लेखकों के साथ मंत्रणा की। तत्पश्चात रथिक महावत और लेखकों के साथ शंब के विश्वासपात्र बुद्धिसेन को कुमार के पास भेजा गया। बुद्धिसेन ने कुमार को समझाया कि वह सुहिरण्या को गणिका की पुत्री न समझे, और स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।[१]

गणिकाओं की उत्पत्ति—पूर्वकाल में भरत मण्डलपति राजा था। वह एक पत्नीव्रत था। उसके सामन्तों ने इसके लिए अनेक कन्याएँ प्रेषित कीं। महारानी के साथ प्रासाद पर बैठे हुए राजा ने उन्हें देखा। महारानी ने प्रश्न किया—यह किसकी सेना चली आ रही है? राजा ने उत्तर दिया—मेरे सामंतों ने मेरे लिए कन्याएँ भेजी हैं। महारानी ने सोचा, अनागत की ही चिकित्सा करना ठीक है, कहीं राजा इनमें से किसी से प्रेम न करने लगे! उसने कहा—स्वामी! प्रासाद से गिरकर मैं प्राणों का त्याग कर रही हूँ। यदि इनमें से

---

१. तुलनीय वृहत्कथाश्लोकसंग्रह ११, ८६।

किसी ने घर में पैर रक्खा तो मैं शोकाग्नि में भस्म हो जाऊँगी। राजा ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो घर में इनका प्रवेश न होगा। महारानी ने कहा—बाहर सभामण्डप में ये आपकी सेवा में उपस्थित रह सकती है। क्रमशः उन्हें गणों के सुपुर्द कर दिया गया। तब से ये गणिकाएँ कही जाने लगी।

(आ) **बृहत्थकथाश्लोकसंग्रह** : कलिंगसेना गणिका की कन्या मदनमंजुका। कलिंगसेना ने राजा को दूर से देखकर नमस्कार किया। राजा ने उसे आमंत्रित किया। पर्यंक के मध्य में आकर वह बैठ गयी। सुन्दर वस्त्राभूषणों से वह सज्जित थी (वर्णन)। उसके निकट १० वर्ष की बालिका बैठी हुई थी। राजा की दृष्टि उसकी ओर आकृष्ट हुई। वह भी राजा को मानो सहस्र नेत्रों से देखने लगी (बालिका का वर्णन)। कलिंगसेना ने बताया कि वह उसकी कन्या है और उसका नाम मदनमंजुका है। राजा ने उसे स्नेहपूर्वक अपने उरू स्थल पर बैठाया। उसकी माता को बहुत से वस्त्राभूषण प्रदान किये। मदनमंजुका भी दीर्घ और उष्ण निश्वास छोड़ती हुई अपने घर चली गयी।[1]

नरवाहनदत्त जब गोमुख आदि मित्रों के साथ रथ में सवार होकर जा रहा था तो रास्ते में लम्बकर्ण, विनीत और लम्बा चोगा पहने, मषीपात्र लिए कान में लेखनी लगाये एक कायस्थ मिला।[2] उसने कहा—"हमारे स्वामी ने इस क्षुद्र श्ववृत्ति को सौंपकर हमें महान् कष्ट में डाल दिया है। उसका आदेश है कि इस पृथ्वी पर जितने विवेकवान श्रेष्ठ पुरुष हैं और जो विवेकवान नहीं हैं, उन सबकी सूची तैयार की जाये।" इस समय दो पुस्तकें हाथ में लिए हुए उसके दूसरे साथी ने नरवाहनदत्त की ओर उँगली से इशारा किया—इस अविवेकी पुरुष का नाम पुस्तक में लिख लो यह विनीत होने पर भी रथ में सवार नहीं होना चाहता, और जो बिना कहे रथ में सवार हो जाता है, उसका नाम विवेकवान पुरुषों के रजिस्टर मे लिखो। यह सुनकर नरवाहनदत्त शीघ्र ही रथ में सवार हो गया। आगे चलने पर एक हाथी मिला। सारथि ने महावत से कहा कि वह रथ के सामने से हाथी को हटा ले। उसने उत्तर दिया तुम्हीं अपने रथ को एक तरफ हटा लो, मैं इसे ताड़ना[3] नहीं चाहता।

---

१. ७. ४-१७, पृ० ८३-६

२. वसुदेवहिंडी में 'पत्तलिवासणहत्थे पुरिसे' हे।

३. वसुदेवहिंडी (पृ० १०२) में अविहेओ से गओ' और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में 'विहन्तुं नेच्छामि' पाठ है। वसुदेवहिंडी की कालिन्दसेना और सुहिरण्यका क्रमशः कलिंगसेना और मदनमंजुका बन गई है।

नरवाहनदत्त ने सारथि से कहा कि यदि महावत (अघोरण)[१] हाथी को नहीं हटाता तो तुम अपने रथ को एक तरफ कर लो। आगे चलकर वणिक् पथ दिखाई दिया। रम्य प्रासाद की पंक्तियाँ दिखाई पड़ीं। मद से उन्मत्त प्रमदाएँ पुरुषों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ कर रही थीं। विटशास्त्र का अध्ययन किया जा रहा था। सारथि ने नरवाहनदत्त को वेश्यालय में प्रवेश कराया। नरवाहनदत्त ने सारथि को रथ लौटाकर ले चलने को कहा। लेकिन सारथि ने उत्तर दिया कि भय की बात नहीं, यह कोई मातंगों का मोहल्ला नहीं है? और किसी चीज के देखने मात्र से कोई दोष का भागी नहीं हो जाता। आगे बढ़ने पर एक उन्नत मन्दिर दिखाई पड़ा। सुन्दर आभूषण धारण करने वाली अनेक कन्याओं ने रथ को घेर लिया। एक कन्या ने नरवाहनदत्त को निकट आने का आमन्त्रण दिया। सारथि ने प्रणयीजन के प्रणय को सफल करने के लिए नरवाहनदत्त से उस गृह में प्रवेश करने का अनुरोध किया। तत्पश्चात जैसे कोई जंगली हाथी शृंखला द्वारा पकड़ लिया जाता है उसी प्रकार नरवाहनदत्त गणिकाओं द्वारा पकड़ लिया गया। पहले कक्ष में उसने नागकन्या को, दूसरे में शिविका को, तीसरे में अश्वों को, चौथे में पक्षियों के पंजरमंडल को, पांचवें में विविध आकार वाले सुवर्ण तारताम्रों को, छठे में धूपानुलेपन से म्लान हुए वस्त्र-परिधान को, सातवें में पट्ट कौशेयक दुकुल वस्त्र को, आठवें में मणिमुक्ता के छेदन आदि संस्कारों को देखा। सुवर्णकुण्डल धारण करने वाली स्त्रियों ने नरवाहनदत्त से निवेदन किया कि उसके चरण-कमलों से उनका घर पवित्र हो गया है। प्रासाद में पहुंच नरवाहनदत्त अनुपम गुणों से युक्त एक सुन्दर कन्या के अनुपम सौन्दर्य को देखकर मूर्च्छित हो गया। उसके दिये हुए आसन पर वह बैठ गया। उसके अन्य मित्र भी उसके साथ थे। कन्या के प्रश्न करने पर नरवाहनदत्त ने बताया कि वह स्वयं गजनीति और गांधर्वज्ञान में, हरिशिख दण्डनीति में, मरुभूतिक शास्त्रज्ञान में तथा तपन्तक रथ आदि यान-विद्याओं में कुशल है। इस गणिकाकन्या की ओर नरवाहनदत्त का आकर्षण न हुआ। अन्य गणिकाओं को भी उसने तुच्छ समझा। इतने में रूपदेवता की भाँति एक अन्य गणिका उपस्थित हुई। उसने बिछे हुए पर्यंक की शरण ग्रहण कर रथ-संक्षोभजन्य खेद को दूर करने का अनुरोध किया। नरवाहनदत्त के पायन्तो बैठकर अपने हाथों से वह उसके पाद संबाहण करने लगी। नरवाहनदत्त क्रीड़ाघर से बाहर निकला वहाँ पहले वाली कन्या मिली। उसने कहा—यह घर आपका ही है, आते रहिए।

---

१. वसुदेवहिंडी (पृ० १०२) और बृहत्कथाश्लोक० दोनों में इसी शब्द का प्रयोग किया गया है।

शुद्ध आचरण ही धर्म है

लेखिका—**निर्मला बोथरा**

प्रकृति से बने इस संसार में चलते चलते जो चिन्तन और अनुभव प्राप्त किये उससे जो विचार के साथ मनोभाव पैदा हुए उसे आप सभी तक पहुंचाने का एक छोटा-सा प्रयास कर रही हूँ। मेरा यह प्रयत्न है कि प्रकृति सौन्दर्य से भरे इस संसार में मानव सुखी जीवन व्यतीत कर अपनी जीवन यात्रा को सफल बनाए।

सत्य एक ऐसा मापदण्ड है जिसे मानव सत्य के रूप में ही समझ सकता है। किसी असत्य रूप में नहीं। मैंने इस लेख में प्रकृति से मिले 'चारित्र धर्म' के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं चारित्र को ऊँचा बनाना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। व्यक्ति अपने परिवार का सदस्य होता है, वह एक पिता और माता का रूप है अपने परिवार की एकता और सही निर्देशन के लिये उसका चरित्र शुद्ध होना नितांत आवश्यक है ताकि वह अपनी आगामी पीढ़ी को सही मार्गदर्शन करा सके, सद्संस्कार डाल सके। मानव जाति के उत्थान के लिये शुद्ध चरित्र आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज बनता है और समाज से विश्व। व्यक्ति विशेष विश्व कल्याण के लिये एक महत्वपूर्ण इकाई है।

मनुष्य अपने ज्ञान को शुद्ध बनाकर उसका सदुपयोग कर अपने और अपनी आने वाली पीढ़ी के भविष्य को उज्जवल बना सकता है। इसीलिये कहा गया है।

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप,
जाके हृदय सांच है ताके हृदय आप

मानव जीवन का उद्देश्य है सत्य की खोज करना और सत्य की राह पर चलकर आत्मा को मुक्त करना। सत्य की खोज में मानव निरन्तर तरह तरह का द्वन्द्व करता आ रहा है। किन्तु प्रकृति के विधान के अनुसार चलकर ही वह सत्य को प्राप्त कर सकता है, उसके विपरीत चलकर सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

यह विधि का विधान है कि हर मुमुक्ष जीवात्मा को मानव भव में आना ही पड़ेगा और बुद्धि विवेक से कर्तव्य का पालन करते हुए ही आगे बढ़ना होगा यदि उसने अपनी बुद्धि का सदुपयोग नहीं किया तो उसका पतन होता रहेगा।

बुद्धिवादी मानव धरती और आसमान में परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु अपने विचारों में परिवर्तन कर सकता है। चूंकि सत्य की सिद्धि से गुजरकर ही सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

सत्य की राह ही श्रेष्ठ राह है। सभी शास्त्रों में अहिंसा को परम धर्म माना गया है और सत्य के पथ पर दृढ़ रहने के लिये शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र पर विशेष बल दिया है। इन तीनों को अपनाकर ही मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है विवेक प्राप्त कर सकता है और उसी विवेक के सहारे सही आचरण कर सकता है। सही आचरण के बिना मनुष्य पशु से भी निम्नस्तर का हो जाता है। सही आचरण का प्रारम्भ बचपन से ही हो जाना चाहिए क्योंकि नींव डालने का यही समय है। और इसी पुख्ता नींव पर चारित्र का दृढ़ महल खड़ा रह सकता है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र ना आराधन थी सार।
सिद्ध शिला ने उपरे हो, मुझ वास स्वीकार॥

शुद्ध दर्शन मानव विकास की प्रथम सीढ़ी है :

दर्शन का अर्थ है भगवान पर विश्वास करना श्रद्धा करना। प्राकृत शक्ति एक विशेष शक्ति है। मानव ने इसी शक्ति को भगवान का नाम दिया है। सारा संसार इसी शक्ति पर आधारित है। इसी आधार पर जीवों का आना जाना चल रहा है और सदैव चलता रहेगा। इसी सत्य पर विश्वास कर बुद्ध, महावीर, राम एवं ईसा ने शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र का पालन कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया और महान् बने। इसीलिये सारा संसार उन्हें पूजता है। इन महान् व्यक्तियों की मूर्ति बनाकर उसे स्थापित कर मन्दिर का रूप दिया है। प्रकृत शक्ति का न कोई रूप है न स्वरूप। वह तो अपने आप में एक सर्वव्यापी महान शक्ति है। मानव में संस्कार डालने के लिये मन्दिर एक साधन है। मूर्ति और चित्र के द्वारा बच्चों में आस्था जागृत की जा सकती है। इस शक्ति पर विश्वास करने की प्रेरणा दी जा सकती है। सिर्फ मन्दिर जाने से ही दर्शन नहीं होता भगवान पर दृढ़ विश्वास उत्पन्न होना ही दर्शन है। जो कुछ हम आँखों से देखते हैं सिर्फ वही सत्य नहीं है। हवा को हम आँखों से नहीं देख सकते किन्तु स्पर्श से उसकी शक्ति का अनुभव करते हैं। मनुष्य जब संसार में आया तो उसके पास कुछ नहीं था, न अन्न न वस्त्र न मकान और न अक्षर ज्ञान। किन्तु उसने अपनी बुद्धि से सब कुछ उपलब्ध किया और यह बुद्धि और शक्ति उसे पूर्वकृत कर्म से मिली है और उसे उजागर करने में प्रकृति सहायक बन रही है। प्रकृत शक्ति मानव शक्ति से ज्यादा बलवान है उसी शक्ति को ध्यान में रखकर कर्त्तव्य और कर्म करना चाहिये। मानव शुद्ध दर्शन के द्वारा शुद्ध

ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। और उस शुद्ध ज्ञान के द्वारा शुद्ध दर्शन को प्राप्त कर सकता है। चूंकि इन दोनों का अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है। ये एक दूसरे से अलग नहीं है।

शुद्ध ज्ञान मानव विकास की दूसरी सीढ़ी है। अच्छे और बुरे की पहचान ज्ञान से ही होती है। पूर्वकृत कर्मशक्ति से मानव को सोचने समझने की शक्ति मिलती है किन्तु उस शक्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग उसके अपने ज्ञान पर निर्भर है। ज्ञान के द्वारा ही वह सोच सकता है कि उसे सच बोलना चाहिये या झूठ, किसी को सुख देना चाहिए या दुःख। ज्ञान से वह समझ सकता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। फिर भी कई प्रलोभन में पड़कर वह बुरा काम करते हैं। परिणामतः उनकी आत्मा अशान्त और मलीन हो जाती है। उनके दिल दिमाग अशान्ति में उलझ जाते हैं। इससे उनके दिमाग और शरीर पर गहरा असर पड़ता है। वे तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। शुद्ध ज्ञान से मानवता आती है। मानवता के अभाव में मनुष्य दानव बन जाता है। वह प्रकृति के प्रतिकूल काम करने लग जाता है जिसका दण्ड उसे प्रकृति भी अवश्य देती है। उस शक्ति के सम्मुख मानव विवश है। प्रकृति के अनुकूल कार्य करके ही वह सुखी, सम्पन्न और महान् बन सकता है। प्रकृति से अच्छा फल प्राप्त करने के लिये पहले उसे अच्छे कर्म करने पड़ते हैं तब उसका अच्छा परिणाम मिलता है। बालक स्कूल में पढ़ता है, कठिन परिश्रम करता है, तत्पश्चात् उसे सफलता मिलती है। शुद्ध ज्ञान से अच्छे कार्य होते हैं। विवेकपूर्वक कार्य करना ही सद्ज्ञान कहलाता है और यही पूर्णज्ञान अर्थात केवल ज्ञान में सहायक होता है।

घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावे।
ज्ञान, चरित्र उन्नत कर अपना, मनुष्य जन्म फल सब पावे।

शुद्ध चरित्र मानव विकास की तीसरी सीढ़ी है। यह प्रकृति से मिला मानव धर्म है। शुद्ध चरित्र के बिना मानव अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। महावीर, बुद्ध, राम और ईसा सभी अपने शुद्ध चरित्र के कारण महान् बने और सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया। वे जन्म-मरण से मुक्त हुए, उनकी आत्मा प्रकृत में विलीन हो गई।

खुद ही बनो युगवीर यह सिद्धांत पुकारे

शुद्ध चरित्र का पालन कर ही मानव स्वआत्मा के स्वरूप को समझ सकता है। सच्चरित्र व्यक्ति में ही सद्विचार पैदा होते हैं। जो मानव कल्याण में सहायक बनते हैं। दुश्चरित्र व्यक्ति में गरुर विचार उत्पन्न होते हैं जो दुखदायी होते हैं। वे स्वयं पतित होते हैं और पूरे वातावरण को दूषित करते हैं

सद्चरित्रता एक महान साधना है इसी साधना के बल पर वह आत्मा प्रकाश पाता है, सही सोचता है और सही कार्य करता है। वह अपने कार्यों द्वारा खुद भी महान बनता है और दूसरों को महान् बनने का मार्ग दर्शन कराता है। मानव ने अपनी बुद्धि से समाज बनाये और समाज में तरह तरह के नियम बनाये धर्म के नाम पर तरह-तरह के विचार रखे। सेवा करना, मन्दिर बनाना, रात में नहीं खाना, जमींकंद नहीं खाना आदि। किन्तु ये सभी अच्छे कार्य मानवमात्र के कर्त्तव्य हैं। व्रत उपवास से शरीर स्वस्थ रहता है। मन नियन्त्रण में रहता है। अशुभ कर्म क्षय होते हैं और यह एक प्रायश्चित का माध्यम है। शुद्ध चरित्र का पालन करना धर्म है और वही संयम है, वही साधना है। सद्दर्शन सद्ज्ञान और सद्चारित्र का पालन करके ही मनुष्य सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है। मानव संसार में मुक्ति प्राप्त करने ही आता है और इन तीनों से ही अपने ध्येय में सफल होता है।

उसकी आत्मा प्राकृतिक शक्ति में विलीन हो जाती है। वह जन्ममरण से मुक्त हो जाता है। इसी को ही मुक्ति, और इसी को निर्वाण कहते हैं। ●

सौजन्य से :

BOYD SMITHS PVT. LTD.

B-3/5, GILLANDAR HOUSE
8, Netaji Subhas Road,
Calcutta-700 001
Phone Office : 220-8105/2139
Resi. : 244-0629/0319

राजा-सम्प्रति

चौथा परिच्छेद

पूर्वानुवृत्ति

राजसभा में

जिस समय में हमारे इस कथानक का आरम्भ होता है, वह आज से २२०० वर्ष पूर्व का था। उस समय महान् अशोक का भाग्य भास्कर समस्त भारत को आलोकित कर रहा था। भारतभूमि के समस्त नरपतिगण उसके तेज प्रभाव से दबकर "साम्राज्य-कर" भेंट करते थे। उसने अपनी तलवार का पानी कलिंग के युद्ध में बतलाकर संसार को अपने पराक्रम से परिचित करा दिया था। उस भयंकर युद्ध में कलिङ्गवासी वीर तीन वर्षों तक अशोकवर्द्धन के सामने जमे रहे। और उस स्वदेशाभिमान की वेदिका पर एक लाख कलिङ्ग वीरों का बलिदान हो गया। लगभग डेढ़ लाख लड़ते हुए पकड़े गये। साथ ही अन्न के अभाव में मरने वालों की तो गिनती ही नहीं थी।

महाराज अशोक के राज्य का विस्तार सुदूर अफगानिस्तान और सिन्ध तक, उत्तर में नेपाल, पूर्व में बङ्गाल और कलिङ्ग तथा पश्चिम में सौराष्ट्र एवं कच्छ से लेकर विन्ध्याचल के दक्षिण में मैसूर के उत्तरी भाग तक व्याप्त हो गया था। शासन की व्यवस्था के लिये उसने चार विभागीय केन्द्र स्थापित किये थे। उत्तर में तक्षशिला, पूर्व में कलिङ्ग, दक्षिण में सुवर्णगिरि और पश्चिम में उज्जयिनी। इन प्रत्येक केन्द्र में भिन्न-भिन्न अधिकारी हाकिम—दण्डनायकों की योजना की गई थी। सिंहलद्वीप का राजा उन्हें प्रसन्न करने के लिए नयी नयी भेंट-सामग्री अर्पण करता रहता था। साथ ही महाराजा अशोक के श्रमण धर्म स्वीकार कर लेने से उस समय बौद्धमत का भी यथेष्ट उत्कर्ष हो रहा था।

ऐसा कहा जाता है कि बौद्धाचार्य उपगुप्त के संसर्ग में आने के पश्चात् सम्राट को जीवदया का तत्वज्ञान होने पर उसे बौद्धधर्म के प्रति अनुराग हुआ और कलिङ्ग के युद्ध में लाखों जीवों की आहुति ने उसके हृदय को विचलित कर दिया था। मनुष्य-जीवन का मूल्य भी उसी समय उसके समझ में आ सका था। अतएव उसने अपनी तेज तलवार को म्यान में रखकर अहिंसा की ओर अपना लक्ष्य परिवर्तन किया और उस अमूल्य अवसर से लाभ उठा कर बौद्धाचार्य ने उसे अनुकूल उपदेश दिया। राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और उपगुप्ताचार्य का अनन्य भक्त बन गया।

बौद्धाचार्य उपगुप्त प्रति दिन सम्राट् की राजसभा में आकर धर्मोपदेश देने लगे। इस प्रकार अनुकूल उपदेश देते हुए उन्होंने राजा को बौद्धधर्म में इतना सुदृढ़ विश्वासी बना दिया कि, उसने देश विदेश में धर्मोपदेशक भेजने का निश्चय कर लिया। उसी उपगुप्त के स्थान पर आज नन्दनाचार्य प्रतिष्ठित थे।

एक दिन राजसभा में सम्राट् के निकट सिंहासन पर अपने शिष्य-समुदाय से परिवेष्ठित नन्दनाचार्य धर्म-सम्बन्धी चर्चा कर रहे थे। धर्म-सम्बन्धी अनेक प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य अपनी बुद्धि के अनुसार उनका समाधान करते हुए राजसभा पर अपने धर्म की मुहर भी लगा रहे थे। साथ ही वे सर्वज्ञ बुद्धदेव की महिमा वर्णन कर उनकी ओर समस्त सभासदों का चित्त आकर्षित करने के लिये भी प्रयत्न कर रहे थे।

"महाराज ! भगवान बुद्धदेव की जन्मभूमि कपिल वस्तु नगरी हिमालय की तलहटी के निकट अवस्थित है; वहाँ की यात्रा आप अवश्य कीजिये।" बात ही बात में नन्दनाचार्य ने महाराजा के सम्मुख प्रस्ताव उपस्थित किया।

"किन्तु वह 'कपिलवस्तु' तो नष्ट हो गई है, न देव ?" राजा ने पूछा !

"हाँ आपका कथन यथार्थ है। फिर भी जिस भूमि ने भगवान का चरण स्पर्श भी किया हो, वह भी उतनी ही वन्दनीय होती है; तब यह तो उनकी जन्म भूमि ही है। राजन् ! उसके माहात्म्य में क्या न्यूनता हो सकती है ?"

"तब तो अवश्य उस पुण्यभूमि के दर्शन कर हमें अपने पापरूपी मल का प्रक्षालन करना चाहिए। अभी बुद्ध भगवान् को गये अधिक समय भी नहीं बीता है। फिर उस नगरी का इस प्रकार विनाश कैसे हो गया ?" सम्राट् ने पूछा।

आज से लगभग २५० वर्ष पूर्व बुद्ध भगवान् हुए और उसके बाद उन्होंने काशी के निकट सारनाथ में आकर उपदेश देना आरम्भ किया। यथाक्रम जब मगधदेश में विहार करते-करते भगवान बुद्धदेव पहुंचे, उस समय वहाँ का श्रेणिक-बिम्बिसार राजा उनका भक्त बना था।" नन्दनाचार्य ने पुरातन चर्चा का पर्दा उठाना आरम्भ किया।

तो क्या बिम्बिसार जैन थे ?" बीच में ही राजा ने प्रश्न किया।

"हाँ; वह बाद में ज्ञातपुत्र महावीर के उपदेश से जैन हो गए थे; किन्तु पहले तो वह बौद्ध ही थे। तत्पश्चात् उनके पुत्र अजातशत्रु-कोणिक मगध-सम्राट् बना और वह भी प्रारम्भ में तो बौद्ध ही था; किन्तु पीछे जाकर वह बौद्धों का शत्रु हो गया और उसने बुद्ध के द्वेष के कारण कपिलवस्तु नगरी को नष्ट कर दिया।" बौद्धाचार्य ने इस पुरातन दुःखपूर्ण गाथा का स्मरण करते हुए एक दीर्घ निःश्वास त्यागा।

"कपिल वस्तु के सिवाय और भी कोई तीर्थस्थान है ?" अशोक ने पूछा।

"सबसे बड़ा तीर्थ सारनाथ है। उसी प्रकार गया और प्रयाग के निकट सरयू के तट पर पलास के वन में भगवान बुद्ध ने तप किया था और जहाँ उन्हें बोधिसत्त्व प्राप्त हुआ था। राजगृह नगर में हमारे मठ की स्थापना भी बुद्ध-भगवान के ही हाथों द्वारा हुई थी। जहाँ आज कई साधु निवास कर रहे हैं। कुशीनगर में वे देह मुक्त हुए थे। श्रावस्ती आदि प्रसिद्धस्थान भी उन प्रभुकी चरण-रज से पवित्र हुए हैं। ऐसे पवित्र स्थानों के दर्शन से अनेक जन्मों के पाप नष्ट होकर आत्मा पवित्र हो जाती है।" बौद्धगुरु ने उत्तर दिया।

"भगवन् ! आत्मा तो क्षणिक है आप भी उसे क्षण स्थायी मानते हैं ! जब कि प्रतिक्षण आत्मा नष्ट होती और नवीनरूप में जन्म लेती है, तो फिर हम पुण्य पाप का हिसाब कैसे लगा सकते हैं ?" राजा ने पूछा।

"आपका यह कथन यथार्थ है। आत्मा प्रतिक्षण बदलती रहने के कारण कर्म करने वाला भी कोई अन्य है और उसका फल भोगने वाला भी कोई अन्य, किन्तु इस सिद्धान्त के गम्भीर रहस्य राजन् ! आप नहीं समझ सकेंगे ! अतएव बुद्ध भगवान पर श्रद्धा रखते हुए ऐसे पवित्र स्थानों के दर्शन तो अवश्य ही करने चाहिए।" इस प्रकार गुरु ने श्रद्धा रखने का महामन्त्र राजा को बतलाया।

"गुरुदेव ! आपका कथन सत्य है। आपके धर्मोपदेश से मेरी दुर्बुद्धि आज शुद्ध हो गई है। साथ ही धर्म की भावना भी मेरी अन्तर में स्पष्ट रूप से अंकित हो गई है।

यह आपकी सरलता और सुजनता का लक्षण है। कितने ही कर्म-मार्गियों का कठोर हृदय तो अखण्ड उपदेश-धारा बरसाने पर भी द्रवित नहीं होता ! फिर धर्म की तो वे बात ही कैसे समझ सकते हैं ?"

यह सब आप ही की कृपा का फल है !"

राजन् ! जिस प्रकार आपने धर्म के प्रति दृढ़ता धारण कर ली है, उसी प्रकार अब आपका यह प्रयत्न भी होना चाहिये कि जनता में बौद्ध धर्म के तत्त्वका प्रसार हो सके।"

"इसके लिए तो आपके बौद्ध-भिक्षु देश-विदेश में उपदेश दे ही रहे हैं। अतः अब आप मुझसे इस विषय में जो सहायता चाहें, उस धर्म सेवा के लिए मैं भी तैयार हूँ।"

"राजन् ! आप भगवान बुद्ध के सच्चे और अनन्य भक्त हैं। अतएव आपके द्वारा इस प्रकार की भावना व्यक्त होना योग्य ही है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि स्थान-स्थान पर बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ स्थापित कर उनमें बौद्ध धर्म की शिक्षा दिलाते हुए बौद्ध-पण्डितों को तैयार

किया जाय, और वे पण्डित या उपदेशक आपकी ओर से यदि आपके राज्य में भ्रमण कर बौद्ध-धर्म का प्रचार करें तो इसका जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।"

"आपकी बात मेरी समझ में आ रही है। आप शुभ मुहूर्त्त में पाठशाला की स्थापना कीजिये और उसके लिए जो भी व्यय होगा, वह राज-कोष से दिया जायगा। देश-विदेश के हजारों विद्यार्थियों को यह शिक्षा देते हुए उपदेश तैयार कराइये और बौद्धधर्म को दिगन्तव्यापी बनाइये।

आज के समय के लिए यही वस्तु अनुकूल है। आज भारत में जहाँ-तहाँ जैनत्त्व छा रहा है। चारों वर्णों में आज जिस प्रकार जैन-भाव फैल रहा है, वैसा ही बौद्धत्त्व का भी प्र सार होना चाहिए। यदि हमारा यह मनोरथ सफल हो सके तो समझ लीजिये कि हमने बुद्ध-भगवान की भली-भाँति सेवा की है।"

किन्तु भगवान्! बुद्ध और महावीर तो लगभग समकालीन ही हुए हैं। फिर भी जहाँ-तहाँ जैन धर्म का इतना अधिक प्रचार कैसे देखने में आता है? हमारे पूर्वज भी जैन धर्म के ही अनुयायी थे। उनसे पहले के मगध सम्राट भी श्री महावीर के ही भक्त थे।" राजा ने पूछा।

"इसीलिए तो राजन्! हमें उपदेशकों द्वारा बौद्धत्त्व के प्रसारार्थ कटिबद्ध होना चाहिए। इसी बात की हमारे यहाँ कमी है कि हममें बुद्धभगवान-जैसी शक्ति नहीं है। इस कार्य में हमें राज्य की सहायता की भी आवश्यकता है।" नन्दन ने निराश होते हुए कहा।

"फिर यह भी कारण हो सकता है कि जैन धर्म तो पूर्व परम्परा से चला आ रहा है, जबकि बुद्ध भगवान तो अभी ही हुए हैं और उन्होंने नये धर्म को आरम्भ किया है। राजा ने कहा।

यह भी ठीक है। ज्ञात पुत्र चौबीसवें तीर्थंकर हैं। अर्थात् उनसे पहले तेईस (२३) तीर्थंकर हो चुके थे। उनमें से प्रथम तीर्थंकर ने उसे आरम्भ किया और परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर उनमें वृद्धि करते चले गये। उसी प्रकार हमें भी जैनत्त्व का प्रभाव हटाकर बौद्धत्त्व को स्थापना के लिए तैयार होना चाहिए।"

इस प्रकार वार्तालाप में समय पूरा हो जाने पर राज्यसभा विसर्जित करके राजा गुरु को साथ ले, अन्तःपुर में गये और वहाँ रानियों को धर्म का उपदेश देकर नन्दन भी अपने स्थान को चले गये।

नन्दनाचार्य के मस्तिष्क में अपने धर्म को दिगन्तव्यापी बनाने की योजना तैयार हो रही थी। क्योंकि उससे स्पर्धा करने वाला जैनधर्म आज जगत् में

विजयी हो रहा था। उसी के समान यदि अपने धर्म का महत्त्व भी संसार में व्याप्त हो सके तो वह बुद्ध-भगवान को कितनी अपूर्व सेवा सिद्ध हो सकती है? इसीलिए उसने तत्काल ही पाठशाला में विद्वान् उपदेशक तैयार करने की योजना महाराज को सहायता से कार्य रूप में परिणत कर दिखाई।

पाँचवाँ परिच्छेद

सौतेली माता का स्नेह

एक दिन राजा अपने एकान्त विचार-भवन में बैठा हुआ था। उस समय अवन्ती से दूत जो सन्देश लेकर आया था; उसे पढ़कर हृदय में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न हुए।" राजकुमार प्रतिदिन बड़ा होता जा रहा है; अतएव उसे अब विद्याभ्यास कराना ही उचित है। यदि वह सुशिक्षित होगा तो अवश्य इतना विशाल साम्राज्य ठीक तरह से चला सकेगा। साथ ही मैं तो इस बात के लिए भी विशेष उत्सुक हूं कि उसी के हाथ से लिखे हुए पत्र कब मेरे पास आवें? विशेष विद्याध्यन एवं अनेक शास्त्रों के परिशीलन से बुद्धि सम्पादित होती है और मस्तिष्क में अनेक प्रकार के नवीन विचार स्फुरित होते हैं। चतुराई के अंकुर प्रकट होते हैं और उससे सत्य-असत्य को परखने की शक्ति प्राप्त होती है। विद्या विहीन मानव मनुष्य नहीं समझा जाता। पण्डितों की सभा में वह नाम को भी लज्जित करता है। बल्कि वह उपहास-पात्र ही सिद्ध होता है। अतएव अब तो कुमार को शिक्षित बनाना ही सब प्रकार से हितकर हो सकता है।" इस प्रकार विचार करते हुए सम्राट् ने अपने हाथों से ही पत्र लिखना आरम्भ किया।

महाराज का ध्यान पत्र लिखने में एकाग्र हो रहा था कि अचानक वहाँ एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। उसने देखा कि महाराज पत्र लिखने में तल्लीन हो रहे हैं। उसे आश्चर्य हुआ कि इतने आदरपूर्वक ये किसे पत्र लिख रहे होंगे? वह धीमे पाँव चलकर राजा के पीछे खड़ी हो गई। किन्तु पत्र को न पढ़ सके, इस प्रकार वह कुछ दूर खड़ी रही।

पाठक समझ ही गये होंगे कि वह महारानी तिष्यरक्षिता ही हो सकती थी। चाहे जहाँ और चाहे जब वह अन्तःपुर में महाराज के पास आ सकती थी। क्योंकि महाराज का उस पर इतना अधिक प्रेम था। प्रसंगानुसार राजकाज में भी वह महाराजा के साथ चर्चा कर सकती थी। जब कुछ देर तक भी राजा की एकाग्रता भंग नहीं हुई, तब अपना आगमन जतलाने के लिए वह उनके सम्मुख आ खड़ी हुई। उसके सहज ही खँकारने से महाराज का ध्यान उसकी

ओर आकृष्ट हुआ। उसने कहा अरे, आज महाराज ऐसे किस कार्य में तल्लीन हो रहे हैं कि मेरे बड़ी देर से यहाँ खड़े-खड़े थक जाने पर भी आपका ध्यान विचलित नहीं हुआ।"

पटरानी के वचन सुनते ही महाराज उसकी ओर देखकर मुसकुरा दिए। फलतः महारानी भी हँसती हुई बोलीं। आप तो इतने अधिक व्यवसाय में फँस गये कि आत्मीय जनों की भी आपको सुधि नहीं रह गई है !"

"लेकिन, तुम आज किधर रास्ता भूल गई हो महारानी ?"
राजा ने पूछा।

"हम तो आपके बिना रास्ता भूल ही जाते हैं, किन्तु आपको हमारी क्या चिन्ता है ?"

"क्यों ? ऐसी क्या बात है ? इस प्रकार मर्मभरे शब्दों का प्रयोग क्यों हो रहा है ?"

"आपके लिए तो हम रातदिन पागल की तरह भटक रहे हैं; किन्तु आपको तो हमारी ओर ध्यान देने का भी अवकाश नहीं है ?"

"किन्तु मेरा ध्यान न होने का अनुमान तुमने कैसे कर लिया ?"

"हम ऐसा क्यों न समझें ? आखिर हम भी तो सेर अनाज खाते ही हैं।"

"किन्तु हम भी तो कहाँ धूल फाँकते हैं महारानीजी ! आज तुम्हारा चित्त खिन्न क्यों हैं ?

"भला, आप हमारे साथ बैठकर कभी विनोद की दो बातें भी तो नहीं करते ! बस, दिनरात राज्य-राज्य ! सदैव राज्य की ही चिन्ता में मग्न रहते हैं। किन्तु राजा हो जाने पर भी घरके लोगों पर से स्नेह नहीं उठ जाता। तिष्यरक्षिता ने राजा की जोड़ में आसन ग्रहण करते हुए कहा।

उसने वहाँ बैठते ही उस पत्र को तिरछी दृष्टि से देखा। वह पत्र युवराज कुणाल के लिए लिखा जा रहा था। इस बात को वह समझ गई। किन्तु उसी के साथ वह इस बात को जानने के लिये व्यग्र हो उठी कि पत्र में क्या लिखा गया है ? इसीलिए वह पत्र को पढ़ने का अवसर खोजने लगी।

राजा ने इस बीच पत्र लिखकर समाप्त कर दिया और महारानी से कहा कि :—"देवी ! धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ हम परस्पर बिना किसी बाधा के साध सकते हैं, और सुख भोगने में भी हम क्या न्यूनता रखते हैं ?" इसके बाद वह पत्र एक ओर रख दिया।

इतने ही में छः वर्ष का कुमार महेंद्र और चार वर्ष की संघमित्रा दोनों वहाँ दौड़ते हुए आ पहुंचे।

महेंद्र को देखते ही तिष्यरक्षिता ने कहा :—लीजिये, यह आपका महेंद्र आ गया। यह बेचारा चाहे जैसा हो, परन्तु···" बोलते बोलते रानी रुक गई।

दोनों बालक पिता की गोद में जा बैठे; और परस्पर खेलने लगे। अनेक प्रकार के संयोग-वियोग में व्यतीत होने वाले महत् पुरुषों के जीवन जब भिन्न प्रकार के होते हैं, तब बालकों की निर्दोष सृष्टि भी कुछ भिन्न ही होती है।

"रानीजी! कहते-कहते क्यों रुक गईं?"

"कुछ नहीं महाराज! वह तो ऐसे ही!"

"नहीं, अपने मनकी बात तो तुम्हें कहनी ही होगी!"

"किन्तु ऐसी छोटी सी बात मैं आपके सामने कैसे कहूँ?"

"जो कुछ तुम्हारे मन में हो, वह अवश्य कहो!"

"क्या आप मेरे महेन्द्र को युवराज-पद नहीं दे सकते?"

"रानी! युवराज तो जो बड़ा होता है, वही हो सकता है।"

"इसीलिए आपने कुणाल को युवराज बनाया है?"

"हाँ, किन्तु महेंद्र भी राज्य कर सकता है। क्योंकि जो कुशल और शासन चलाने के लिए योग्य होता है, वह भी राजा तो हो ही सकता है। हमारा सोचा हुआ थोड़े ही होता है?"

"यह तो विधाता के लेख की बात है, किन्तु इसमें आपकी तो कोई कृपा नहीं है न?"

"इसमें कृपा की कौन-सी बात है? एक साथ दो तीन व्यक्ति को युवराज-पद देकर क्या कभी राज्य का उत्तराधिकारी निश्चित किया जा सकता है?"

"अवश्य किया जा सकता है! यदि इस विषय में आपका विचार दृढ़ हो तो ऐसा भी किया जा सकता है?"

"तो इस विषय में तुम क्या कहना चाहती हो?"

"यही कि उस छोकरे के प्रति आपको इतना मोह क्यों है? आप दिनरात उसी के लिये चिन्तित रहते हैं! आपको तो सभी पुत्रों पर समान दृष्टि रखनी चाहिए!"

"तुम नहीं जानती महारानी! वह बेचारा बिना माँ का है। यदि मैं उसका इतना ध्यान न रखूँ तो उसके जीवन का ही अन्त आ जाय!"

"इसका कारण क्या है?" तिष्यरक्षिता ने अनजान-सी बनकर पूछा।

"कारण स्पष्ट ही प्रकट हो रहा है कि वह राज्य का उत्तराधिकारी युवराज होने के कारण प्रत्येक की आँख में किरकिरी के समान चुभता होगा। उसके जीवन की प्यासी कुछ रानियाँ समय की प्रतीक्षा कर रही होंगी!"

"तो क्या, इसीलिए आपने उसे अवन्ती में रक्खा है?"

"हाँ, इसीलिए!"

रानी ने मन में निश्चय कर लिया कि राजा इस प्रकार समझाये नहीं समझेगा। अतः कोई ऐसा संयोग उपस्थित होने पर ही कार्यसिद्धि हो सकती है। इतने ही में राजा-रानी की बातचीत का क्रम टूट गया और दासी ने आकर निवेदन किया कि :—"महाराज! भोजन तैयार है।"

राजा-रानी भोजन के लिए उठे। महेंद्र ने महाराज-की उँगली पकड़ी और संघमित्रा माता के साथ चली। दोनों वहाँ से भोजनशाला में जा पहुँचे।

(क्रमशः

स्व० नरेन्द्र सिंह जी बैद
की पुण्य स्मृति में

—मीरा बैद
८३-बी, विवेकानन्द रोड,
कलकत्ता-७००००६
फोन : २४१-०७१९

उलटी लिपि का कलाकार : सुरेन्द्र डागा

एम० पी० लश्करी

सुरेन्द्र डागा एक ऐसे क्षेत्र के कलाकार हैं जिस क्षेत्र की ओर सम्भवतः अब तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ी। वे उलटा लिखने में सिद्धहस्त हैं। और केवल एक लिपि ही नहीं, वे देश-विदेश की सात भाषाओं को—और केवल *दाहिने हाथ से ही नहीं, दोनों हाथों और दोनों पैरों से भी—उलटा लिख* लेते हैं। धुन के पक्के इस अध्यवसायी ने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच, जर्मन राजस्थानी और गणित में औसतन ७० से ८५ शब्द प्रति मिनट लिखकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया है।

शिक्षा का क्षेत्र हो या किसी साहसिक कारनामे का, कोई अजीबोगरीब शौक अथवा नारी सौन्दर्य के खिताब का, आजकल तो दुनिया में कीर्तिमान बनाने की मानो होड़ लगी हुई है। यदि इच्छाशक्ति दृढ़ हो, मन में अटूट विश्वास हो, तो ऐसे लगनशील, निष्ठावान व्यक्ति के शब्दकोश में 'असम्भव' शब्द नहीं होता। गहरा आत्मविश्वास, कार्य के प्रति समर्पण का भाव, बुलन्द इरादे और नीयत नेक हो तो व्यक्ति हर चुनौती का सामना कर सकता है।

वैसे तो कुछ नया करने, कोई कीर्तिमान स्थापित करने की होड़ सम्पूर्ण विश्व में ही है लेकिन भारत ने इस क्षेत्र में सदैव विश्व के सामने एक मिसाल कायम की है। अखाड़े में दारासिंह, रजत-पट पर अमिताभ बच्चन, क्रिकेट के मैदान में कपिलदेव और सुनील गावस्कर, निशाना साधने में डॉ० करणीसिंह और धनुर्धर लिम्बाराम, फर्राटा-परी पी० टी० उषा—और भी न जाने कितने व्यक्तित्व हुए हैं जिनकी बदौलत विश्व में भारत के नाम की धूम मची है।

कहा भी जाता है, युवा जब अंगड़ाई लेता है तो कठिनाईयां स्वतः समाप्त हो जाती है, चुनौतियां विराम ले लेती है। ऐसा ही एक युवा कलाकार जैन समाज का है—सुरेन्द्र डागा।

बीकानेर (राजस्थान) के उपनगर भीनासर के मूल निवासी सुरेन्द्र डागा एक ऐसे क्षेत्र के कलाकार हैं जिस क्षेत्र की ओर सम्भवतः अब तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ी। वे उलटा लिखने में सिद्धहस्त हैं। और केवल एक लिपि ही नहीं, वे देश-विदेश की सात भाषाओं को—और केवल दाहिने हाथ से ही नहीं दोनों हाथों और दोनों पैरों से भी—उलटा लिख लेते हैं। धुन के पक्के इस

अध्यवसायी ने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेन्च, जर्मन, राजस्थानी और गणित में औसतन ७० से ८५ शब्द प्रति मिनट लिख कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। उसका लिखा पढ़ने के लिए हमें दर्पण की आवश्यकता होती है। डागा ने तीन पुस्तकों को उलटो लिपि में लिख डाला है।

कला की शुरुआत के बारे में डागा का कहना है कि नई भाभी की मजाक, होली का दिन और उनकी पढ़ने की परेशानी से इस कला का अंकुर फूटा। भीनासर के श्री गुमानचन्द डागा के पुत्र श्री सुरेन्द्र डागा ने दो बार अपना नाम लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड्स में दर्ज कराया है। उन्हें यह कला जारी रखने का प्रोत्साहन उनके अग्रज श्री लूणकरण, राजकरण एवं मूलचन्द से मिला। तेरापंथ युवक परिषद, भीनासर का सहयोग भी कम नहीं था।

२१ वर्षीय युवक सुरेन्द्र का कहना है—स्वर्ग का आनन्द क्या होता है यह तो पता नहीं, लेकिन यदि होता भी है तो उससे अधिक आनन्द मुझे समाज सेवा में आता है उल्लेखनीय है कि सुरेन्द्र डागा विभिन्न सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। लोटस क्लब के अध्यक्ष, सूर्या क्लब के महामन्त्री, जैन जगत सेवा समिति एवं माँ कृपालय सत्संग भवन के संगठन मन्त्री सहित विभिन्न पदों पर वे अपनी सेवाएँ दे रहे हैं। वे तेरापंथ जनगणना विभाग के राष्ट्रीय संयोजक और ज्ञानशाला प्रकोष्ठ के व्यवस्थापक भी हैं। वे जैन विश्व भारती, लाडनूं में तेरापंथ जनगणना विभाग में भी अपनी सेवाएँ दे रहे हैं।

सुरेन्द्र डागा की कला की न केवल प्रशंसा हो रही है बल्कि इसका मूल्यांकन भी हुआ है। ३ दिसम्बर १९९३ तथा १५ मई १९९५ को भारत की सबसे बड़ी कीर्तिमान पुस्तिका—लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड्स ने डागा की कला का अंकन किया है। देश की विभिन्न संस्थाओं ने इनका बहुविध सम्मान किया है। २८ अगस्त १९९४ को बीकानेर में आयोजित 'डागा सम्मान समारोह' में जिला एवं मुंसिफ मजिस्ट्रेट श्री हेमन्त जैन ने नगद पुरस्कार, सम्मान-पत्र एवं वैजयन्ती देकर सम्मान बढ़ाया है। २६ जनवरी १९९४ को बीकानेर के जिला कलेक्टर श्री आर० सी० रूँगटा ने इन्हें प्रमाण-पत्र देते हुए कहा कि ऐसे तेजस्वी युवकों से केवल जिले का ही नहीं, राज्य और देश का भी गौरव बढ़ता है। उसी वर्ष १४ अगस्त को अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद के २८वें अधिवेशन पर दिल्ली में गणाधिपति श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सान्निध्य में श्री डागा को पुरस्कार प्रदान करते हुए संस्था के महामन्त्री श्री अशोक संचेती ने कहा कि आयु में कम होना ही मुख्य बात नहीं है लेकिन कम आयु में कर्तृत्व का यह विकास अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इससे पूर्व ५ अक्टूबर १९९२ को डागा का कार्यक्रम जयपुर दूरदर्शन ने भी प्रसारित किया। लॉयन्स क्लब, रोटरी क्लब, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, अणुव्रत महासमिति आदि देश की कोई १२० संस्थाओं, जैन महाविद्यालय, रामपुरिया महाविद्यालय आदि ने इस कला को देखा है, परखा है, सम्मान किया है। श्रवण बेलगोला (हासन, कर्नाटक) के जगद्गुरु चारुकीर्ति भट्टारकजी के सान्निध्य में इन्होंने अपनी कला का बखूबी प्रदर्शन किया। इनकी कला की सराहना करते हुए क्षेत्र धर्मस्थली (कर्नाटक) के धर्माधिकारी श्री विरेन्द्रजी हेगड़े ने अपने सन्देश में लिखा कि इस कला में पारंगत होने से आप वास्तु, हस्तविद्या एवं अन्य विद्याओं में भी महानता प्राप्त कर सकते हैं। गरौयाबन्द के न्यायाधीश श्री गौतम चोरड़िया ने इनकी कला का प्रदर्शन देख कर अपने शुभाशंसा पत्र में लिखा कि भारत को ऐसे कलाकारों की अत्यन्त आवश्यकता है।

५ अप्रैल, १९७५ को जन्मे इस कलाकार ने कहा—"मेरे मन में वर्षों से यह इच्छा थी, और अब भी है कि मैं सबसे अलग, सबसे अनूठा कुछ करूँ। पिछले पाँच वर्षों के अविरल अभ्यास से मैं इस मुकाम तक पहुँचा हूँ। मैं जानता हूँ, मुझे कई भाषाएँ हाथों-पैरों से लिखनी होगी तभी मैं विश्व कीर्तिमान स्थापित कर सकूँगा। यही मेरा लक्ष्य है।" ●

सौजन्य से :

ARBEITS INDIA

Export House recognised by Govt. of India

Proprietor : **SANJIB BOTHRA**

8/1, MIDDLETON ROW,
5th Floor, Room No. 4
CALCUTTA-700 001

Phone : 201029/6256/4730
Telex : 021-2333 ARBI IN
Fax No. : 0091-33290174

तित्थयर

वर्ष—२०

मई १९९६ से अप्रैल १९९७

कथानक

श्रीमती राजकुमारी बेगानी	:	महाराजा श्रेणिक	२२,७०,९५,१२६ १५५,१८७
श्री काशीनाथ जैन	:	राजा सम्प्रति	२५१,२७८,३०७ ३५०

निबन्ध

श्री बालचन्द्र जैन	:	जैन प्रतिमा विज्ञान के आधार ग्रन्थ	३
डा० शिव प्रसाद	:	चैत्र गच्छ का संक्षिप्त इतिहास	१३,४४,८०,११९ ११७, १४७, १७९, २०५
डा० शिवप्रसाद	:	सरवालगच्छ का संक्षिप्त इतिहास	८७
डा० श्रीमती राजेश जैन	:	मध्यकालीन राजस्थानी जैन इतिहास के साधन स्रोत	१०१, १३३, १६५
श्री रज्जन कुमार	:	हिन्दू एवं जैन धर्म के परिपेक्ष्य में सती प्रथा	३७
श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री	:	प्राचीन आगम में श्रीकृष्ण साहित्य	१३९,१७०,२१२ २५४
डा० जगदीशचन्द्र जैन	:	प्राकृत जैन कथा साहित्य	२२२, २४४
श्रीमती लता बोथरा	:	केशर क्यारी में महकता जैन दर्शन	२२९
श्री भंवरलाल नाहटा	:	अध्यात्मी फिलसुफ रायचन्द कवि	२६७
डा० शिवप्रसाद	:	पूर्ण तल्ल गच्छ का संक्षिप्त इतिहास	२८४, २९८

प्रवचन

आचार्य श्रीविजय भद्रगुप्त सूरीश्वरजी महाराज	:	श्रावक जीवन	५०,६९,१०८ १५१,१७३,१९७ २४०,२६१,२९३,३२५

संकलन

गणाधिपति तुलसी :	पहले कचरा निकालो	३१
आचार्य श्री हीराचन्द्रजी महाराज :	बिना ज्ञान के सुख-दुख दोनों में आर्त्तध्यान	६५
आचार्य श्री नानेश :	छोटा सा बीज ही बट वृक्ष बनता है।	६६
आचार्यश्री हीराचन्द्रजी महाराज :	आंतरिक सौंदर्य को निखारिये	९८
उपेन्द्रमुनि 'शास्त्री :	विनम्रता	१२९
श्री चंचलमल चौरड़िया :	शरीर में स्वयं स्वस्थ होने की क्षमता है	१६१
श्री विजयमुनि शास्त्री :	पर्युषण लोकोत्तर पर्व है	१९३
श्रीमती मेनका गांधी :	दूध के लालच में पशुओं के साथ बर्बरता	२२५
आचार्यश्री चन्दना :	विविधता में आनन्द	२५८
श्री चंचलमल चौरड़िया :	क्या रात्रि भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है	२९०
श्री रमेशमुनि शास्त्री :	कर्म आदि या अनादि	३२१
एम० पी० लश्करी	उल्टी लिपि का कलाकार	३५८
	जैन पत्र-पत्रिकाएँ कहाँ/क्या	३२,६६,१३० १६२,१९४
	तित्थयर—वर्ष-२०	३६१

WB/NC-330
Vol. XX No. 11-12 TITTHAYARA March 1997
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77 **April 1997**

आ. श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मन्दिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा